इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

MSK 003
दर्शन : न्याय, वेदान्त, सांख्य और मीमांसा

खंड

2

तर्कसंग्रह (अन्नम्भट्ट)

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

खंड परिचय – खंड 2 तर्कसंग्रह (अन्नम्भट्ट)

खंड दो के अंतर्गत शिक्षार्थी अन्नम्भट्ट कृत तर्कसंग्रह का अध्ययन करेंगे। खंड में पांच इकाईयां हैं। इस खंड में तर्कसंग्रह की प्रतिपाद्य विषयवस्तु का परिचय छात्र प्राप्त करेंगे तथा विशेष अध्ययन के अंतर्गत न्याय वैशेषिक दर्शन ग्रंथ के आधार ग्रंथ तर्कसंग्रह में वर्णित पदार्थ, द्रव्य, गुण, प्रमाणों आदि का विस्तृत विवेचन भी करेंगे। प्रतिपाद्य विषयों से संबंधित ग्रंथभाग तथा उसकी व्याख्या सविस्तार प्रस्तुत है। इकाई संयोजन इस प्रकार है :

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 4 न्याय–वैशेषिक परम्परा और तर्कसंग्रह

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

इस पाठ के माध्यम से आप :

- न्याय वैशेषिक शास्त्र की परम्परा के उद्भव एवं विकास के बारे में जान सकेंगे।
- न्याय शास्त्र और वैशेषिक शास्त्र का आधारभूत परिचय प्राप्त करेंगे।
- न्याय शास्त्र और वैशेषिक शास्त्र के प्रमुख आचार्यों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- न्याय शास्त्र और वैशेषिक शास्त्र के प्रमुख प्रकरण ग्रन्थों के बारे में जानेंगे।
- न्याय शास्त्र में तर्कसंग्रह का स्थान और उसकी प्रतिपाद्य विषयवस्तु के बारे में जान सकेंगे तथा;
- तर्कसंग्रह के कर्ता अन्नम्भट्ट का जीवन परिचय प्राप्त करेंगे।

4.1 प्रस्तावना

प्रिय छात्रो! आपके पाठ्यक्रमानुसार इस इकाई में आप न्याय वैशेषिक शास्त्र की परम्परा के बारे में अध्ययन करेंगें। आप यहाँ जान पाएँगे कि इस न्याय और वैशेषिक शास्त्र की परम्परा का उद्भव कब हुआ और कालातीत में कैसे यह शास्त्र पल्लवित और पुष्पित होता हुआ एक महावृक्ष की तरह आज विशाल और प्रवर्धित हो चुका है। यह न्याय और वैशेषिक शास्त्र छः आस्तिक भारतीय दर्शनों में परिगणित हैं।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

भारतीय दर्शनों का विभिन्न शाखाओं एवं सम्प्रदायों में विकास हुआ है। शिवमहिम्नः स्तोत्र की टीका में मधुसूदन सरस्वती ने छः आस्तिक एवं छः नास्तिक; कुल बारह सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। यह छः आस्तिक दर्शन इस प्रकार हैं – सांख्य, योग, कर्ममीमांसा (पूर्वमीमांसा), शारीरकमीमांसा (उत्तरमीमांसा या ब्रह्ममीमांसा), न्याय और वैशेषिक। इसी प्रकार छः नास्तिक दर्शन इस प्रकार हैं – माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, चार्वाक, दिगम्बर(जैन)।

यहाँ आस्तिक और नास्तिक से यह अभिप्राय नहीं है कि जो ईश्वर परलोक इत्यादि को मानता हो वह आस्तिक और जो नहीं मानता हो वह नास्तिक। यद्यपि "अस्ति परलोकादि इति दिष्टं मतिः यस्य स आस्तिकः", "नास्ति परलोकादि इति दिष्टं मतिः यस्य स नास्तिकः" इस प्रसिद्ध व्युत्पत्ति के आधार पर सभी पूर्वोक्त अर्थ ही स्वीकार करते हैं। परन्तु वास्तविक रूप से जो सीधे वेदों पर आधारित हैं वही आस्तिक दर्शन हैं। यथा – मीमांसा और वेदान्त। इसी तरह जो वेदों का प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए स्वविचार सरणि पर आधारित हैं वे भी आस्तिक दर्शन हैं। यथा – सांख्य, योग, वैशेषिक और न्याय। तो इस प्रकार से नास्तिक दर्शन वे हुए जो वेदों की निन्दा करते हैं या वैदिक मतानुयायियों की निन्दा करते हैं तथा वेद को प्रामाणिक नहीं मानते। यथा – चार्वाक, बौद्ध जैन इत्यादि।

इन्हीं आस्तिक दर्शनों में अन्यतम है न्याय और वैशेषिक दर्शन। इस पाठ में आगे चलकर हम इसके बारे में और विस्तार से चर्चा करेंगें। इन दोनों दर्शनों के प्रवर्तक आचार्यों तथा इनसे सम्बन्धित उनके परवर्ती मुख्य आचार्यों की भी संक्षेप में चर्चा हम करेंगे। इन्हीं आचार्यों में अन्यतम हुए हैं श्री अन्नम्भट्ट, जिन्होंने दोनों शास्त्रों का समावेश करते हुए परिचयात्मक प्रारम्भिक स्तर की अभिनव अनुपम कृति 'तर्कसंग्रह' की रचना की। अतः सम्प्रति श्री अन्नम्भट्ट के व्यक्तित्व व कर्तृत्व के बारे में चर्चा करेंगे।

4.2 अन्नम्भट्ट का परिचय

व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

न्यायवैशेषिकशास्त्रीयपदार्थों को अवलम्बित कर उनके परिचयात्मक प्रारम्भिक स्तरीय अध्येताओं को ध्यान में रखकर लिखी गई अभिनव, अनुपम सुप्रसिद्ध कृति 'तर्कसंग्रह' के रचयिता अन्नम्भट्ट हैं सर्वज्ञात है। जैसा कि अन्नमभट्ट इस नाम से ही ज्ञात हो जाता है कि तर्कसंग्रहकार दाक्षिणात्य थे। इनका जन्म आन्ध्रप्रदेश में कृष्णा नदी के तटोपान्तवर्ती जनपद गरिकपाद नामक ग्राम में हुआ था। इनके जन्म समय को लेकर विद्वानों में कुछ मतभेद भी है। जैसे कि "भारतखण्डा चा ऐतिहासिक कोष" नामक ग्रन्थ में आर. बी. गोडबोले महोदय ने इनका काल निर्धारण पञ्दशशताब्दी में माना। लेकिन इस मत से अथल्ये और बोडस (Y.V. Athalye and M.R. Bodas) महोदयद्वय सहमत नहीं हैं। क्योंकि अन्नंभट्ट गदाधर भट्टाचार्य और विश्वनाथपञ्चानन भट्टाचार्य के भी परवर्ती हैं। स्वयं गदाधर भट्टाचार्य सोहलवीं (षोडश) शताब्दी में उत्पन्न हुए थे, तथा विश्वनाथ तो उनके भी बाद में हुए। इस तरह कई प्रमाण देते हुए अथल्ये और बोडस महोदयद्वय ने इनका काल 1625–1700 ई. वर्ष के मध्य निर्धारित किया। इसकी विस्तृत चर्चा Y.V. Athalye and M.R. Bodas द्वारा सम्पादित Introduction to Tarkasangraha नामक ग्रन्थ की भूमिका में की गई है। प्रायः ज्यादातर विद्वान् अथल्ये और बोडस के मत का समर्थन करते हैं। यह ग्रन्थ बॉम्बे संस्कृत सीरीज के दौरान 30

सितम्बर 1918 को प्रकाशित हुआ था। तो इस प्रकार ज्ञात होता है कि अन्नंभट्ट के काल के विषय में मतभेद होते हुए भी इनके आन्ध्रीय होने में किसी को कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। इनके पिता का नाम तिरुमलाचार्य था, ऐसा इनके द्वारा रचित महाभाष्यप्रदीप के व्याख्यान उद्योतन की पुष्पिका से ज्ञात होता है। इसी पुष्पिका के द्वारा इनका वंश परिचय भी ज्ञात होता है कि यह ऋग्वेदी स्मार्त ब्राह्मण राघवसोमयाजि नामक किसी प्रसिद्ध विद्वान् के कुल में उत्पन्न श्री तिरूमलाचार्य के पुत्र हैं। तिरुमलाचार्य स्वयं महामहोपाध्याय और अद्वैतविद्याचार्य की उपाधि से विभूषित थे। महाभाष्य प्रदीपोद्योतन कृति की पुष्पिका – "इति श्रीमहामहोपाध्यायाद्वैतविद्याचार्यराघवसोमयाजिकुलावतंसश्रीतिरुमलाचार्यवर्यस्य सूतोरन्नम्भट्टस्य कृतिषु भाष्यप्रदीपोद्योतने" इस प्रकार से है।

अन्नम्भट्ट की शिक्षा

अन्नम्भट्ट की शिक्षा के बारे में अधिक उल्लेख प्राप्त नहीं होता है कि इनकी शिक्षा कहाँ और किस गुरु के सान्निध्य में सम्पन्न हुई। तथापि कुछ विद्वान् मानते हैं कि इन्होनें कौण्डिन्यपुर जाकर बारह वर्षों तक एक शाला में अध्ययन किया और वहीं पर कुछ वर्षों तक अध्यापन भी किया। वहाँ इन्होनें अपनी कृति तर्कसंग्रह, तर्कसंग्रह की व्याख्या दीपिका, मुक्तावली तथा गादाधरी का अध्यापन कराकर कई उत्तम छात्र व्युत्पन्न किए। गादाधरी के सुगमता से बोधगम्य न होने के कारण ही इन्होनें तर्कसंग्रह पर दीपिका नामक व्याख्या की रचना की ऐसी मान्यता है। इसीलिए इसे बालगादाधरी भी कहा जाता है। इतना मात्र ज्ञात होने पर भी इनके गुरु इत्यादि के बारे में कहीं किसी इतिहासकार को कोई प्रमाण नहीं मिल पाया। इन्होंने न केवल न्याय शास्त्र अपितु वेदान्त, व्याकरण, पूर्वमीमांसा इत्यादि का भी अध्ययन किया था जिससे इनका सर्वतन्त्रपारावारीण होना सिद्ध होता है। परन्तु यह विदित नहीं की इन्होंने इन सभी शास्त्रों का अध्ययन किस किस गुरु के सान्निध्य में किया।

अन्नम्भट्ट की कृतियाँ

जैसा कि उपरितन व्याख्यान से स्पष्ट है कि अन्नम्भट्ट न्याय शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। साथ ही इनके द्वारा रचित ग्रन्थों से इनके अनेक शास्त्र पारङ्गत होने के प्रमाण मिलते हैं। यह न केवल न्याय अपितु वेदान्त, व्याकरण, पूर्वमीमांसादि शास्त्रों के भी महान् ज्ञाता थे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ निम्नलिखित हैं –

1) **तर्कसंग्रह** : यह ग्रन्थ न्याय एवं वैशेषिक दोनो दर्शनों को समाहित करने वाला ग्रन्थ है। इसके अध्ययन से न्याय एवं वैशेषिक के सभी मूल सिद्धान्तों का ज्ञान मिल जाता है। इस ग्रन्थ में 'पदार्थों' के विषय में जो कुछ है वह पूर्णतः वैशेषिक के अनुसार है जबकि प्रमाण के विषय में जो कुछ है वह पूर्णतः न्याय के अनुसार है। इसके बारे में पाठ में आगे विस्तार से चर्चा करेंगें।

2) **तर्कसंग्रहदीपिका** : यह अन्नंभट्ट की तर्कसंग्रह पर स्वोपज्ञ टीका है। जो तर्कसंग्रह मूल के साथ साथ गादाधरी के विषयों का सार रूप में सरलतया प्रतिपादन करती है। ऐसा सुना जाता है कि अन्नंभट्ट ने अध्यापन काल में तर्कसंग्रह के मूलग्रन्थ को तथा गादाधरी को समझाने हेतु अपने शिष्यों के लिए इसकी रचना की थी। अतः इसे बालगादाधरी की प्रशस्ति भी प्राप्त है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि नव्य न्याय के प्रारम्भिक अध्येताओं तथा नव्य न्याय में व्युत्पत्ति सम्पादन के लिए यह प्रवेश ग्रन्थ है। अत एव तर्कसंग्रह मूल के साथ

इसके अध्ययन की परम्परा तथा इसकी प्रशस्ति सम्पूर्ण भारत में अद्यावधि अक्षुण्ण है।

3) **मिताक्षरा** : जैसा कि अथल्ये एवं बोडस महोदय लिखते हैं कि यह ब्रह्मसूत्र के ऊपर लिखी गई स्वल्पाक्षरा वृत्ति है। अत एव इसकी संज्ञा 'मिताक्षरा' अन्वर्थसंज्ञा है। अन्य कुछ विद्वानों के मत में यह काशिकानुसारिणी पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्रों पर लिखी गई वृत्ति है। वस्तुतः यह द्वितीय मत ही समीचीन और ग्राह्य है। क्योंकि जब अथल्ये और बोडस महोदय के द्वारा तर्कसंग्रह (Introduction to Tarkasangraha) ग्रन्थ का सम्पादन किया जा रहा था तब इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि सम्भवतः पूर्णरूपेण उपलब्ध नहीं रही होगी। सम्प्रति कोलकाता एशियाटिक सोसाइटी संग्रहालय से प्राप्त मिताक्षरा की पाण्डुलिपि पर राष्ट्रिय संस्कृत विश्वविद्यालय, तिरुपति में एक शोधच्छात्र द्वारा शोधकार्य क्रियमाण है। उस पाण्डुलिपि में अन्नम्भट्ट की कृति होने का स्पष्ट उल्लेख है। तो इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मिताक्षरा ब्रह्मसूत्रों पर नहीं अपितु पाणिनीय सूत्रों पर लिखी गई अल्पाक्षरा वृत्ति है। इसमें जयादित्य एवं वामन की काशिकावृत्ति तथा रामचन्द्राचार्य द्वारा लिखी गई प्रक्रियाकौमुदी की छवि स्पष्ट प्रतीत होती है।

4) **तत्त्वबोधिनीटीका** : इसके बारे में भी अधिक स्पष्टता नहीं है कि यह न्यायशास्त्र के कौन से ग्रन्थ की टीका है। किसी अपूर्ण पाण्डुलिपि के आधार पर विद्वज्जन तथा इतिहासकार इसे अन्नम्भट्ट की कृति मानते हैं। तत्त्वबोधिनी नाम से तीन कृतियाँ वर्तमान में पूर्णतया उपलब्ध तथा सकर्तृक ज्ञात हैं – उनमें से एक है संक्षेपशारीरक भाष्य पर नृसिंहकृत टीका, दूसरी है तन्त्रशास्त्र पर रचित कृष्णानन्द की टीका और तीसरी भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी पर ज्ञानेन्द्रभिक्षु द्वारा रचित तत्त्वबोधिनी टीका। परन्तु अन्नम्भट्ट कृत टीका इनसे भिन्न है तथा इसका मूलग्रन्थ भी अज्ञात है।

5) **न्यायपरिशिष्टप्रकाश** : यह टीका उदयनाचार्य के द्वारा लिखे गए ग्रन्थ न्यायपरिशिष्ट के ऊपर लिखी गई टीका है।

6) **राणकोज्जीविनी अथवा सुबोधिनीसुधासार** : यह टीका राणक अथवा न्यायसुधा ग्रन्थ जो कि सोमेश्वर के दावारा रचित है, के ऊपर लिखी गई है। अतः इसको राणकोज्जीविनी या सुबोधिनीसुधासार के नाम से जाना जाता है। राणक अथवा न्यायसुधा भी वस्तुतः सोमेश्वर द्वारा प्रणीत एक टीका ग्रन्थ है। सोमेश्वर ने यह टीका कुमारिल भट्ट के तन्त्रवार्तिक ग्रन्थ के ऊपर लिखी थी। कुछ विद्वान् राणकोज्जीविनी तथा सुबोधिनीसुधासार को पृथक् ग्रन्थ भी मानते है, लेकिन अथल्ये एवं बोडस महोदय के अनुसार यह एक ही ग्रन्थ है।

7) **महाभाष्यप्रदीपोद्योतनम्** : जैसा कि नाम से ही ज्ञात हो रहा है कि उद्योतन नामक यह टीका ग्रन्थ व्याकरण शास्त्र के महनीय और सर्वमान्य परम प्रामाणिक ग्रन्थ महर्षि पतंजलि प्रणीत महाभाष्य के व्याख्यानभूत महावैयाकरण कैयट द्वारा लिखित ग्रन्थ 'प्रदीप' का व्याख्यान है। कैयट के प्रदीप पर ही नागेशभट्ट ने प्रसिद्ध उद्योत ग्रन्थ की रचना की थी। परन्तु नामसाम्य होने पर भी नागेश ग्रन्थ से यह सर्वथा भिन्न तथा पूर्ववर्ती है। यह ग्रन्थ महाभाष्य मूल तथा कैयट के प्रदीप के गूढ रहस्यों पर प्रकाश डालता है। सम्पूर्ण महाभाष्य पर उपलब्ध प्रदीप टीका के साथ पूर्ण उपलब्ध व्याख्यानों में नागेश के उद्योत के समान ही यह भी

एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ विषय प्रतिपादन में कतिपय स्थलों पर प्रदीपानुसारि व्याख्यान करता है तो कहीं कहीं प्रदीप से विरुद्ध भी स्वतन्त्र मार्ग का आश्रयण करता है।

अन्नम्भट्ट का वैयाकरणत्व और सर्वशास्त्रपारङ्गतत्व

अन्नम्भट्ट की ख्याति प्रायः न्याय विद्वान् के रूप में ही है। लेकिन जितने अच्छे वे नैयायिक थे उतने ही अच्छे शाब्दिक (वैयाकरण) भी थे। इसका प्रमाण उनके द्वारा लिखा गया महाभाष्य प्रदीप का विस्तृत व्याख्यान उद्योतनम् ही है। लेकिन वैयाकरण के रूप में इनकी ख्याति उस तरह से नहीं हो पाई जैसी कि न्याय के लेकर।

अन्नम्भट्ट के वैयाकरण बनने के पीछे एक रोचक कथा प्रचलित है। ऐसी किंवदन्ति है कि एकदा इनकी उत्कृष्ट न्याय विद्वान् की ख्याति से प्रभावित होकर कुछ विद्वान् इनसे भेंट करने हेतु इनके घर आए। तब रात्रि के भोजन के समय अन्नम्भट्ट ने अपनी पत्नी को दही लाने के लिए कहा कि "दधिमानय"। ऐसा सुनकर वे विद्वज्जन हँसने लगे कि ये क्या इतने बड़े न्याय के विद्वान् को यह पता नहीं कि दधि शब्द नपुंसक लिङ्ग शब्द है अतः इसकी द्वितीया विभक्ति में 'दधि' ही रूप बनेगा न कि 'दधिम्' होता है। तो इस प्रकार अपने पति का उपहास होता देख अन्नम्भट्ट की पत्नी ने कहा कि अयि विद्वद्वृन्द आपने पूरा वाक्य ठीक से सुना नहीं लगता है, मेरे स्वामी कह रहे हैं "दधि मा आनय" अर्थात् दही मत लाओ क्योंकि शास्त्र में रात्रि को दही भक्षण निषिद्ध है। अतः आप उपहास करने से पूर्व वाक्य रचना को ठीक से समझिए। तो इस प्रकार कथञ्चित् पत्नी के द्वारा उस दिन उनकी गरिमा रक्षण हो पाई। तब इन्हें आत्मग्लानि हुई की आज मैं पत्नी के द्वारा रक्षित हुआ। तो इसके बाद इन्होंने व्याकरण शास्त्र का गहन अध्ययन किया और शीघ्र ही व्याकरण शास्त्र में पारङ्गत हो महाभाष्य की प्रदीप पर अतीव विस्तृत व्याख्या उद्योतन की रचना कर डाली। इस कथा के माध्यम से यह भी ज्ञात होता है कि इनकी पत्नी भी संस्कृत विदुषी थी। महाभाष्य प्रदीपोद्योतन ग्रन्थ की पुष्पिका के माध्यम से इनके कुल की विद्वत्परम्परा तो स्वतः ज्ञात होती ही है। इनके ज्येष्ठ भ्राता श्रीराकृष्णभट्ट ने भी सिद्धान्तकौमुदी ग्रन्थ पर सिद्धान्तरत्न नामक टीका की रचना की थी, ऐसे प्रमाण मिलत हैं।

इसके बाद अन्नम्भट्ट ने वेदान्त मीमांसादि शास्त्रों से सम्बद्धित ग्रन्थों पर भी टीकाएँ लिखी (जिनका विवरण ऊपर पाठ में दिया जा चुका है) और सर्वशास्त्रपारावारीण कहे जाने लगे। इनकी विद्वत्ता किसी के भी लिए कसौटी या मिसाल के रूप में मानी जाने लगी। इसलिए एक उक्ति भी लोक में प्रचलित हो गई कि "काशीगमनमात्रेण नान्नम्भट्टायते द्विजः"। इसका तात्पर्य है कि काशी जाकर पढ़ लेने मात्र से कोई भी द्विज अन्नम्भट्ट भट्ट नहीं हो जाता (अन्नम्भट्ट के वैदुष्य की बराबरी नहीं कर सकता) अर्थात् किसी भी विद्वान् का वैदुष्य अन्नम्भट्ट के वैदुष्य को मानक मानकर तौला जाने लगा। इससे इनकी कीर्ति सम्पूर्ण भारत वर्ष प्रसरित हो चुकी थी ऐसा कह सकते हैं।

4.3 न्याय वैशेषिक का परिचय एवं आचार्य परम्परा

4.3.1 वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार मुनि कणाद हैं। इनका अन्य नाम कणभुक्, कणभक्ष भी है। इनका दर्शन औलूक्य दर्शन के नाम से भी प्रसिद्ध है, इससे प्रतीत होता है कि ऋषि उलूक के ये पुत्र थे, तथा औलूक्य नाम से भी प्रसिद्ध थे। वैशेषिक दर्शन में द्रव्य, गुण,

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

कर्म, सामान्य, एवं विशेष ये छह भाव पदार्थ तथा सातवाँ अभाव पदार्थ माना गया है। वैशेषिक दर्शन के ग्रन्थ का नाम दशलक्षणी है। इसमें दश अध्याय हैं। दशों अध्यायों में दो–दो आह्निक हैं। इसका प्रथम सूत्र "अथातो धर्म व्याख्यास्यामः" है। तृतीयसूत्र में ऋषि ने बताया है कि द्रव्यादि षट्–पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

इस दर्शन में विशेष पदार्थ की कल्पना की गई है। विशेष ही एक परमाणु से दूसरे परमाणु को भिन्न बताता है। यह विशेष परमाणु में रहने वाला भेदक धर्म है। विशेष – नामक पदार्थ के अनुसन्धान के आधार पर ही यह दर्शन वैशेषिक नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वैशेषिकसूत्र पर प्रशस्त पाद ने पदार्थधर्मसंग्रह नामक भाष्य लिखा, जो प्रशस्तपादभाष्य के नाम से प्रशस्त है। प्रशस्तपादभाष्य पर व्योमकेश ने व्योमवती टीका लिखी। ये दाक्षिणात्य थे।

मिथिला निवासी आचार्य उदयन ने 10वीं शताब्दी में किरणावली एवं न्यायकन्दली नामक दो प्रसिद्ध टीकाएँ लिखीं, जो आज स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में मान्य हैं। इनके अन्य ग्रन्थ हैं – कुसुमाञ्जलि, लक्षणावली, आत्मतत्त्वविवेक और बौद्धधिक्कार; ये सभी वैशेषिक दर्शन पर आश्रित हैं। अन्य प्रसिद्ध आचार्यों में बंगवासी श्रीधराचार्य, वल्लभाचार्य, पद्मनाभमिश्र, शंकर मिश्र आदि के नाम आदरणीय हैं।

4.3.2 न्यायदर्शन

भारतीय दर्शन परम्परा में न्यायदर्शन का क्षेत्र बहुत ही व्यापक एवं प्रसिद्ध है। आज से पचास वर्ष पूर्व तक अन्य शास्त्रों का ज्ञाता यदि न्यायशास्त्र नहीं जानता था तो उसकी गणना प्रसिद्ध विद्वानों में नहीं की जाती थी। न्यायदर्शन ने संस्कृत विद्या के सभी क्षेत्रों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। न्याय के लिए आभाणक प्रसिद्ध है – "प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्"। न्याय ने वैशेषिक सिद्धान्तों का संशोधित रूप प्रतिपादित किया है। अतः न्याय वैशेषिक समानतन्त्र ही हैं। न्यायशास्त्र का ज्ञाता वैशेषिक का भी ज्ञाता स्वतः हो जाता है। जहाँ वैशेषिक दर्शन में छः (6) पदार्थ हैं वहीं न्यायदर्शन में प्रमाण प्रमेय इत्यादि सोलह (16) पदार्थ हैं, दोनों की प्रतिपादन शैली भी एक जैसी है। विवेच्य विषय की भी समानता है।

न्यायशब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है जैसे – "नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेन इति न्यायः" जिससे प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि हो, वह न्याय है। नि+इण धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर न्याय शब्द सिद्ध होता है। न्याय पञ्चावयवयुक्त वाक्य के रूप में भी प्रयुक्त है – पञ्चावयवोपेतवाक्यात्मको न्यायः।

न्यायः पञ्चाङ्गमधिकरणम् – प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पाँच अङ्गों का अधिकरण वाक्य भी न्याय है। इस तरह न्यायशास्त्र की संज्ञा में भी न्याय शब्द है।

प्रमाणैरर्थपरीक्षण न्यायः – प्रमाणों द्वारा अर्थ का परीक्षण भी न्याय है। आन्विक्षिकी विद्या के अर्थ में न्यायशब्द का प्रयोग देखा जाता है। "प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अन्वीक्षणम् अन्वीक्षा, तया प्रवर्तते इति आन्विक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्।"

आचार्य पाणिनि ने भी "अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च" (3.3.122) सूत्र में न्याय को संज्ञा माना है।

न्याय शब्द का प्रयोग आपस्तम्ब सूत्र में (11–48.13) पूर्वमीमांसा के लिए भी है। विश्वनाथ के अनुसार न्यायसूत्रकार गौतम के समय में न्याय शब्द न्यायशास्त्र के लिए प्रसिद्ध हो गया था, अतः वह अपने ग्रन्थ का नाम न्यायसूत्र करते हैं।

न्यायसूत्रकार गौतम अथवा अक्षपाद गोतम – न्यायसूत्र का प्रणेता गौतम को माना जाता है। पद्मपुराण, स्कन्दपुराण, गान्धर्वतन्त्र, नैषधचरित और विश्वनाथ पञ्चानन न्यायसूत्र के रचयिता के रूप में गोतम का नाम लेते हैं। अधोलिखित प्रमाणों से यह ज्ञात होता है । तथा हि –

कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्।
गोतमेन तथा न्यायं सांख्यं तु कपिलेन वै।। (पद्मपुराण उत्तरखण्ड अध्याय 263)
एषा मुनिप्रवरगोतमसूत्रवृत्तिः श्री विश्वनाथ कृतिना सुगमाल्पवर्णा।।
(विश्वनाथपञ्चानन न्यायसूत्रवृत्ति)
मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।
गोतमं तमवेतैव यथा वित्थ तथैव सः।। (नैषध, सर्ग 19)
गोतमः स्वेन तर्केण खण्डयंस्तत्र तत्र हि ।। (स्कन्दपुराण कालिकाखण्ड अध्याय 17)

इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का अभिमत है कि गोतम दो हुए हैं – (1) मेधातिथि गौतम, (2) अक्षपाद गौतम। मेधातिथि गौतम न्यायसूत्र के आदि रचयिता हैं, तथा अक्षपाद गौतम उसके प्रतिसंस्कर्ता हैं, ऐसा विश्वेश्वर आदि का मत है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन अक्षपाद को न्यायसूत्रकार मानते हैं

योऽक्षपादमृषि न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरम्।
तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्णयत्।। (न्यायभाष्य)
अक्षपादप्रणीतो हि विततो न्यायपादपः।
सान्द्रामृतरसस्यन्दफलसन्दर्भनिर्भरः।। (न्यायमंजरी 1 परिच्छेद)

तर्कभाषा की भूमिका में आचार्य विश्वेश्वर ने इतिहासकारों के मतों की समीक्षा करते हुए निष्कर्ष के रूप में बताया कि मेधातिथि गोतम अध्यात्मप्रधान न्यायसूत्र के रचयिता हैं, जो प्रमेयप्रधान है, और अक्षपाद गौतम ने उसको प्रमाणप्रधान स्वरूप देकर न्यायसूत्र का नवीन संस्करण कर दिया। विश्वेश्वर के अनुसार मेधातिथि गोतम का जन्मस्थान बिहार प्रान्त के दरभंगा मण्डल से 28 मील दूर गौतमस्थान है। जहाँ आज भी कुण्ड है, जो गौतम के नाम से प्रसिद्ध है। यही गौतम अहिल्यापति भी हैं। ये मिथिला के राजा जनक के पुरोधा थे। अक्षपाद गौतम का जन्मस्थान प्रभासपत्तन माना जाता है, जो काठियावाड़ के निकट बताया जाता है। ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार अक्षपाद गौतम शिव के अंश से सोमशर्मा ब्राह्मण के घर उत्पन्न हुए थे। ये जातुकर्णी व्यास के समकालीन थे। प्रथम गौतम का काल वि. पू. 600 माना है तथा अक्षपाद गौतम का काल वि. पू. 400 माना जाता है। अन्य बहुत सारे विद्वान् मेधातिथि गौतम एवं अक्षपाद गौतम को एक ही मानते हैं। इन्हें कहीं गौतम, कहीं अक्षपाद के नाम से कहा जाता है। षड्दर्शन–विख्यात विद्वान् वाचस्पति मिश्र (850 ई.) ने गौतम को दोनों नामों से अभिहित किया है, न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका के प्रारम्भ में –

अथ भगवता अक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते।

इस पंक्ति में अक्षपाद नाम लिखा है, तथा न्यायसूची में –
यदलम्भि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपङ्कमग्नानाम्।
श्रीगोतमसुगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्।।

गोतम लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि न्यायसूत्रकार का नाम गोतम था, तथा अक्षपाद यह औपाधिक नाम था।

एक किंवदन्ती के अनुसार गोतम न्यायचिन्ता में सदा डूबे रहते थे। कई बार चलते समय गिर कर आहत हो जाते थे। इसलिए अपने भक्त की रक्षा हेतु शिव ने उनके पैर में एक आँख दे दी, जिससे वे मनःसंयोग से दूर तक देख लिया करते थे तथा दुर्घटना से बच जाते थे। नेत्र की पाद में उपलब्धि के कारण वे अक्षपाद कहलाने लगे। भास के प्रतिमानाटक में 'मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम्' का उल्लेख है। तथैव महाभारत में शान्तिपर्व में –

> मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गोतमस्तपसि स्थितः।
> विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थाव्यतिक्रमम्।। (शांति पर्व)

में मेधातिथि गौतम का वर्णन है, जो पत्नी के मर्यादा उल्लंघन के कारण तपस्या में लीन हो गये। उपर्युक्त कथन ने मेधातिथि गौतम एवं अक्षपाद गौतम एक ही व्यक्ति सिद्ध होते है, किन्तु यहाँ आशंका होती है कि यदि दोनों एक हैं तब तो वे त्रेतायुगीन हुए । अहल्यापति गोतम त्रेतायुगीन थे। तब न्यायसूत्र के चतुर्थ–अध्याय के सूत्रों में शून्यवाद, बाह्यार्थ–भङ्गवाद आदि कलिकालीन बौद्धमतों का खण्डन कैसे हुआ? तो इसका समाधान न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट (910 ई.) इस प्रकार देते हैं – सभी विद्याएँ वेद के समान सृष्टि के आरम्भ काल से ही विद्यमान है। जब कोई व्यक्ति किसी विद्या का संक्षेप या विस्तार करने की इच्छा से वर्णन करता है तब लोग उसे उस विद्या का प्रणेता मानने लगते हैं।

इस कथन से सिद्ध होता है कि न्यायसूत्र में खण्डित शून्यवाद एव बाह्यार्थ–भङ्गवाद अत्यन्त प्राचीन विचार हैं। बुद्ध ने उसका पल्लवन किया, अतःयह उनके नाम से प्रचलित हो गया।

चूँकि ये विचार बुद्ध से अत्यन्त प्राचीन हैं, अतः न्यायसूत्र में उनका खण्डन बौद्धमत का खण्डन नहीं माना जाना चाहिए। इस तरह दोनों एक ही हैं, यह भी पक्ष है।

न्यायसूत्र न्यायदर्शन के नाम से भी जाना जाता है। इसमें कुल पाँच अध्याय है। प्रत्येक अध्याय में दो–दो आह्निक हैं। कुल प्रकरण 84 हैं तथा सूत्रों की कुल संख्या 524 है।

भाष्यकार वात्स्यायन – न्यायसूत्रों के प्रामाणिक भाष्यकार वात्स्यायन ऋषि हैं। न्याय का विकसित स्वरूप हमारे समक्ष वात्स्यायन ने प्रस्तुत किया। इनके भाष्य को न्यायभाष्य कहा जाता है। हेमचन्द्र के अभिधानचिन्तामणि में वात्स्यायन के दश नाम बताये गये हैं –

> वात्स्यायनो मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः।
> द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गलश्च सः।। (आचार्य हेमचन्द्रकृत अभिधानचिन्तामणि)

पुरुषोत्तम देव के त्रिकाण्ड शेष में कौण्डिन्य, अंशुक और मल्लिनाग ये तीन नाम वात्स्यायन के और पाये जाते हैं। इस तरह वात्स्यायन को कौटिल्य या चाणक्य भी माना जाता है जो अर्थशास्त्र के प्रणेता हैं। कुछ विद्वान् कामशास्त्र के प्रणेता और न्यायभाष्य के कर्ता को एक ही मानते हैं, परन्तु प्रमाणों से यह सिद्ध नहीं होता कि कौटिल्य और वात्स्यायन एक ही थे। वात्स्यायन ने अपने भाष्य में महाभाष्य से और

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ में बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन (300 ई.) के सिद्धान्तों का खण्डन किया है। बौद्ध आचार्य दिङ्नाग (500 ई.) ने वात्स्यायन के आक्षेपों का खण्डन किया है। अतः जैकोबी के अनुसार इनका समय 300–400 ई. के मध्य माना जा सकता है।

न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने वात्स्यायन और पक्षिल स्वामी; इन दो न्याय भाष्यकार को उद्धृत किया है। पक्षिल स्वामी नाम के आधार पर इन्हें दाक्षिणात्य माना जाता है। पक्षिल स्वामी की व्युत्पत्ति इस प्रकार दिखाई गई है –

पक्षिणः प्रतिपक्षिणः लाति आदत्ते, निग्रहस्थाने गृह्णाति इति। अथवा पक्षिणः खगान्, लाति आदत्ते, सस्नेह सकृपं गृह्णाति इति। (न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका)

कुछ विद्वान् इनका नाम वात्स्यायन स्वीकार करते हैं तथा पक्षिल को औपाधिक नाम मानते हैं। पक्षिल नाम के आधार पर वे इन्हें दक्षिण का नहीं मानते हैं, अपि तु मिथिला का मानते हैं। उनका कहना है कि वात्स्यायन भाष्य की रचना के बाद द्रविड़ देश में न्याय पर कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं लिखा गया। मिथिला में अनवरत न्यायशास्त्र पर ग्रन्थ लिखे गये। उस समय न्यायशास्त्र के अध्ययन, अध्यापन, व्याख्या आदि मिथिला में होते रहे हैं, अतः ये मिथिलावासी थे।

न्यायवार्तिककार उद्योतकर (भरद्वाज) – उद्योतकर भरद्वाज ने न्यायभाष्य पर न्यायवार्तिक नामक महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है। ये पाशुपत सम्प्रदाय के अनुयायी भारद्वाज गोत्र के ब्राह्मण थे। इनका समय 650 ई. माना जाता है। इन्होंने वात्स्यायन भाष्य पर दिङ्नाग आदि बौद्धों के आक्षेप का उद्धार अपने न्यायवार्तिक में किया है। इनका जन्मस्थान काश्मीर माना जाता है, क्योंकि ये पाशुपत सम्प्रदाय के थे। कुछ विद्वान् इन्हें थानेश्वर का तथा कुछ मिथिला का मानते हैं।

वाचस्पति मिश्र – भारतीय दर्शन के सर्वतन्त्र स्वतन्त्र आचार्य के नाम से प्रसिद्ध वाचस्पति मिश्र ने अन्य दर्शनों की तरह न्याय दर्शन पर भी महत्त्वपूर्ण टीका न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका लिखकर न्यायशास्त्र की परम्परा को प्रतिष्ठित किया। इन्होंने न्यायसूची नामक लघु ग्रन्थ में रचना का काल लिखा है, जो 840 ई. निर्धारित होता है। इनके गुरु त्रिलोचन थे। इन्होंने धर्मकीर्ति तथा धर्मोत्तर आदि द्वारा न्यायवैशेषिक पर किए गए आक्षेपों का परिहार करने के लिए उद्योतकर रचित न्यायवार्तिक पर न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका लिखी। इस ग्रन्थ के द्वारा न्यायवैशेषिक के सिद्धान्तों का परिष्कार और विकास हुआ। न्यायवैशेषिक को परिनिष्ठित रूप देना इनका अद्भुत कार्य है। ये सभी दर्शनों पर समान अधिकार रखते थे। आज के समय में भी दर्शनों के सम्यक् ज्ञान हेतु वाचस्पति मिश्र की व्याख्या सर्वाधिक उपयोगी एवं प्रामाणिक मानी जाती है। ये भारतीय दर्शन के देदीप्यमान रत्न माने जाते हैं। इनकी रचनाओं की नामावली इस प्रकार हैः

न्यायशास्त्र – न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, न्यायसूची निबन्ध।
सांख्यशास्त्र – सांख्यतत्त्वकौमुदी, युक्तिदीपिका (अप्राप्त)।
योग – तत्त्ववैशारदी।
मीमांसा – न्यायकणिका, तत्त्वबिन्दु।
वेदान्त – भामती, ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा, ब्रह्मसिद्धि, वेदान्ततत्त्वकौमुदी।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

वाचस्पति मिश्र का जन्मस्थान बिहार के मधुबनी जिला (मिथिला) के अन्धराठाढी ग्राम में हुआ था। इनके नाम पर बिहार सरकार ने रेलवे स्टेशन का नाम वाचस्पति नगर रखा है।

जयन्त भट्ट – जयन्त भट्ट ने न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र में निर्दिष्ट पदार्थों के क्रम से न्यायमञ्जरी नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है। ये वाचस्पति मिश्र के समकालीन या कुछ पूर्व में हुए थे। न्यायकणिका की प्रस्तावना में वाचस्पति मिश्र ने न्यायमञ्जरी का उल्लेख किया है –

अज्ञानतिमिरशमनीं परदमनीं न्यायमञ्जरीं रुचिराम्।
प्रसवित्रे प्रभवित्रे विद्यातरवे नमो गुरवे।। (न्यायकणिका 3)

इस तरह जयन्त भट्ट का समय 9वीं शताब्दी सिद्ध होता है। सरस्वती भवन सीरिज से प्रकाशित न्यायसार की न्यायकलिका टीका भी जयन्त भट्ट की रचना मानी जाती है।

उदयनाचार्य – उदयनाचार्य न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय के विलक्षणप्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे। इन्होंने लक्षणावली नामक ग्रन्थ की समाप्ति में जो काल निर्दिष्ट किया है, वह लगभग 948 ई. है। अतः इनका जन्म काल 10वीं शताब्दी है। इन्होंने न्यायवैशेषिक पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। बौद्धदार्शनिकों ने न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका की आलोचना की है। इसके उद्धार के लिए इन्होंने न्यायवार्तिकतात्पर्य–परिशुद्धि नामक विशिष्ट टीका लिखी। प्रशस्तपादभाष्य पर किरणावली नामक टीका लिखी। इसके अतिरिक्त न्यायकुसुमाञ्जलि तथा आत्मतत्त्वविवेक ये दोनों इनके मौलिक ग्रन्थ हैं। न्यायकुसुमाञ्जलि में अनेकों युक्तियों एवं प्रमाणों को प्रस्तुत कर ईश्वर की सिद्धि की गई है। आत्मतत्त्वविवेक में आत्मा की सिद्धि की गई है। आत्मतत्त्वविवेक बौद्धधिक्कार के नाम से भी प्रसिद्ध है। उदयनाचार्य की कृतियों का प्रभाव तर्कभाषा पर पर्याप्त है। इसके अलावा न्यायपरिशिष्ट नामक ग्रन्थ भी इनके द्वारा प्रणीत है। इसमें न्याय वैशेषिक के विविध विषयों की सूक्ष्म आलोचना की गई है। इसका अपर नाम प्रबोधसिद्धि भी है। इनका जन्म स्थान मिथिलाप्रदेश के दरभंगा जिले में स्थित करियन ग्राम है। इनकी प्रशंसा में भक्तिमाहात्म्य नामक ग्रन्थ में निम्न श्लोक पढ़ा गया है –

भगवानपि तत्रैव मिथिलायां जनार्दनः।
श्रीमदुदयनाचार्यरूपेणावततार हे।। (भक्तिमाहात्म्य – 31/23)

भासर्वज्ञ – 9वीं व 10वीं शताब्दी के मध्य या जयन्त भट्ट के समकालिक एक और विद्वान् हुए भासर्वज्ञ जो प्रायः कश्मीरी ब्राह्मण थे। यह भी अद्‌भुत प्रतिभा से सम्पन्न विलक्षण व स्वतन्त्र सोच रखने वाले विद्वान् थे। इन्होंने न्यायसार नामक मौलिक ग्रन्थ की रचना की जिसका प्रतिपाद्य विषय न्यायशास्त्र का साररूपेण सङ्कलन। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि ग्रन्थकार ने इसमें प्राचीन न्याय की परिपाटी का उल्लङ्घन कर दिया है। जैसे न्यायानुमोदित चार प्रमाण न मानकर इन्होंने तीन ही प्रमाण माने हैं और उपमान को स्वतंत्र प्रमाण स्वीकृत नहीं किया है। इसी तरह इन्होंने अनध्यवसित नामक एक छठा हेत्वाभास भी माना है।

न्याय और वैशेषिक का ऐसा सम्मिश्रण होता आया है कि दोनों के साहित्य का पृथक्करण करना कठिन है। शिवादित्य की सप्तपदार्थी वरदराज की तार्किकरक्षा, केशव मिश्र की तर्कभाषा, ये सब न्याय – वैशेषिक के उभयनिष्ठ ग्रन्थ है।

4.3.3 नव्यन्याय

न्यायदर्शन का समस्त साहित्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है – (1) पदार्थमीमांसा, (2) प्रमाणमीमांसा। न्यायशास्त्र की पदार्थमीमांसा शाखा के प्रवर्तक महर्षि गौतम थे, जिन्होंने प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त अवयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभास छल जाति और निग्रह स्थानों का विवेचन प्रस्तुत किया।

दूसरी ओर 12वीं शताब्दी में पुनः मिथिला में गङ्गेश उपाध्याय नामक एक अद्भुत एवं विलक्षण प्रतिभासम्पन्न विद्वान् का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने प्रमाणमीमांसा के 'तत्त्वचिन्तामणि' नामक प्रवर्तन ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द इन चार प्रमाणों का गम्भीर एवं परिष्कृत स्वरूप प्रस्तुत किया। इसे नव्यन्याय के नाम से जाना जाता है। पदार्थमीमांसा (प्रमेयमीमांसा) 'प्राचीनन्याय' के नाम से जाना जाता है तथा प्रमाणमीमांसा 'नव्यन्याय' के नाम से जाना जाता है। दोनों प्रकार की न्यायधारा का आविर्भाव मिथिला में होने से देश में मिथिला को यह गौरव प्राप्त है कि एक शास्त्र का आविर्भाव उसने ही किया। अन्य किसी शास्त्र पर किसी क्षेत्र का ऐसा एकाधिकार रहा हो, यह अब तक अज्ञात ही है।

गङ्गेश उपाध्याय – नव्यन्याय शाखा के प्रवर्तक या जन्मदाता गङ्गेश उपाध्याय का जन्म मिथिला के दरभंगा जिला स्थित करियन गांव है, जो कमला नदी के तट पर है। यद्यपि इनसे पूर्व भासर्वज्ञ तथा उदयनाचार्य इस नवीन शैली को अपना चुके थे तथापि गङ्गेश की परिमार्जित विवेचनशैली, विशेष पदावली का प्रयोग, व्याप्ति के स्वरूप पर गम्भीर विचार के कारण तत्त्वचिन्तामणि को नव्यन्याय शाखा का प्रथम ग्रन्थ मानते हुए गङ्गेश उपाध्याय को नव्यन्याय शाखा का प्रवर्तक माना गया। गङ्गेश उपाध्याय न केवल मौलिक चिन्तन वाले दार्शनिक ही थे, अपितु ये असाधारण प्रतिभासम्पन्न कवि भी थे। काव्य के क्षेत्र में इनकी गर्वोक्ति द्रष्टव्य है। तथा हि –

> अनास्वाद्य गौडीमनाराध्य गौरीं, विना तन्त्रमन्त्रैर्विना शब्दचौर्यात्।
> प्रसिद्धप्रबुद्धप्रबन्धप्रवक्ता, विरञ्चिप्रपञ्चे मदन्यः कविः कः।।

न्याय के क्षेत्र में इनकी सत्य गर्वोक्ति इस प्रकार है –

> यतो मणेः पण्डितमण्डनक्रिया प्रचण्डपाषण्डतमस्तिरस्क्रिया।
> विपक्षपक्षे न विचारचातुरी न च स्वसिद्धान्तवचो दरिद्रता।।
> (तत्त्वचिन्तामणि – प्रत्यक्षखण्ड मङ्गलश्लोक – 3)

गङ्गेश प्रवर्तित नव्यन्याय तर्कशास्त्र है। शास्त्रार्थ में विजयश्री के वरण के लिए यह शैली विशिष्ट है। गङ्गेश के तत्त्वचिन्तामणि पर जितनी टीकाएँ लिखी गई हैं उतनी बहुत ही कम ग्रन्थों पर होंगी। उनका यह ग्रन्थ चिन्तामणिं या केवल श्मणिश के नाम से भी नैयायिकों के बीच में प्रसिद्ध हैं।

नव्यन्याय के उद्भव के बाद वर्धमान उपाध्याय, पक्षधर मिश्र, रुद्रदत्त, शंकर मिश्र, वासुदेव मिश्र ने इस धारा को आगे बढ़ाया। मिथिला के विद्वानों ने इस परम्परा को मिथिला में ही सुरक्षित रखना चाहा। किन्तु पक्षधर सार्वभौम ने मिथिला में नव्यन्याय का अध्ययन कर इसका प्रचार नवद्वीप (बंगाल) में किया । इस तरह नव्यन्याय की मिथिला शाखा एवं नवद्वीप शाखा नाम से दो शाखाएँ हो गई।

नवद्वीप शाखा के रघुनाथ शिरोमणि 15वीं शती, मथुरानाथ तर्कवागीश 16वीं शती, जगदीश तर्कालङ्कार 17वीं शती तथा गदाधर भट्टाचार्य 17वीं शती विशेष उल्लेखनीय विद्वान् हैं।

वर्द्धमान उपाध्याय – गंगेश उपाध्याय के सुपुत्र वर्द्धमान उपाध्याय प्रसिद्ध टीकाकार हुए हैं। इन्होंने 'मणि' पर टीका लिखी है। इन्होंने उदयनाचार्यकृत न्यायकुसुमाञ्जलि पर भी टीका की है जो 'कुसुमाञ्जलि प्रकाश' नाम से विख्यात है। उदयनाचार्य की न्यायतात्पर्यपरिशुद्धि पर इनकी 'न्यायनिबन्धप्रकाश' नामक टीका है। बल्लभाचार्य रचित 'न्यायलीलावती' पर इनकी लीलावतीकंठाभरण नाम का टीका है।

पक्षधर मिश्र (जयदेव) – पक्षधर मिश्र 1250 ई. में उत्पन्न हुए। इनका दूसरा नाम जयदेव भी था। ये महाकवि दार्शनिक एव शास्त्रार्थ महारथी थे। अनुमान में इनकी गति इतनी तीव्र थी कि कोई प्रतिपक्षी इनके सम्मुख ठहरता ही नहीं था। इनके विषय में यह श्लोक प्रचलित है –

> यदधीतं तदधीतं यदनधीतं तदप्यधीतम्।
> पक्षधरप्रतिपक्षो न लक्ष्यते कदापि लोकेऽस्मिन्।।

पक्षधर मिश्र ने अपने चाचा हरिमिश्र से शिक्षा ग्रहण की थी। पक्षधर मिश्र द्वारा प्रणीत मुख्य ग्रन्थ इस प्रकार से हैं – (1) तत्त्वचिन्तामणि – आलोक, (2) द्रव्यपदार्थ, (3) लीलावती विवेक, (4) प्रसन्नराघव नाटक, (5) चन्द्रालोक।

रघुनाथ शिरोमणि – पक्षधर मिश्र के शिष्य रघुनाथ शिरोमणि का जन्म 1477 में नदिया बंगाल में हुआ था। ये गङ्गेश उपाध्याय के समान तीक्ष्ण–बुद्धि नैयायिक थे। इन्होंने तत्त्वचिन्तामणि पर दीधिति नामक अद्‌भुत टीका का प्रणयन किया। इन्होंने प्रतिभाबल से पुरातन सिद्धान्तों का खण्डन कर अनेक नवीन सिद्धान्त स्थापित किये। इनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ इश प्रकार हैं – (1) तत्त्वचिन्तामणि दीधिति, (2) पदार्थतत्त्वनिरूपण, (3) किरणावलिप्रकाशदीधिति, (4) न्यायलीलावतीप्रकाशदीधिति (5) अवच्छेदकत्वनिरुक्ति, (6) खण्डनखण्डखाद्य–दीधिति, (7) आख्यातवाद, (8) नञ्–वाद।

मथुरानाथ तर्कवागीश – नवद्वीप निवासी मथुरानाथ तर्कवागीश रघुनाथ शिरोमणि के पुत्र थे। अपने पिता से ही इन्होंने शिक्षा ग्रहण की थी। इनकी विद्वत्ता से प्रभावित विद्वानों ने इन्हें तर्कवागीश की उपाधि दी थी। इनकी रचनाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं – (1) तत्त्वचिन्तामणिरहस्य, (2) तत्त्वचिन्तामणि–आलोकरहस्य, (3) दीधितिरहस्य, (4) सिद्धान्तरहस्य, (5) किरणावलीप्रकाशरहस्य, (6) न्यायलीलावतीप्रकाशरहस्य, (7) न्यायलीलावती–प्रकाश दीधितिरहस्य, (8) बौद्धधिक्काररहस्य एवं (9) आदिक्रिया विवेक।

सत्रहवीं शताब्दी में नवद्वीप विद्यापीठ के दो महारथी न्याय के प्राङ्गण में आये। ये थे जगदीश और गदाधर। न्यायशास्त्र के दुर्गम कानन में ये दोनों केसरी स्वरूप थे। नव्यन्याय में ये अपना सानी नहीं रखते थे 'दीधिति' की टीका रचना में दोनों ने अपना अपना पाण्डित्यातिशय द्योतित किया है। जगदीशकृत टीका जागदीशी और गदाधरकृत टीका गादाधरी नाम से प्रसिद्ध है। जगदीश ने प्रशस्तवाद भाष्य पर भी टीका की है जो भाष्य सूक्ति कहलाती है। इसके अतिरिक्त तर्कामृत और शब्दशक्तिप्रकाशिका भी इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। एतदतिरिक्त अनुमिति रहस्य, अवच्छेदकत्त्वनिरुक्त्यादि विषयों पर इनके पचासों स्फुट निबन्ध भी मिलते है।

न्याय शास्त्र के भण्डार को कृतिरूप अमूल्य निधियों से परिपूर्ण करने में जितना योगदान गदाधर का है उतना शायद अन्य किसी विद्वान् का नहीं। गादाधरी टीका के अतिरिक्त उन्होंने मूलगादाधरी भी लिखी है जिसमें मणि के प्रमुख अंशों की व्याख्या है। उदयनाचार्य कृत आत्मतत्त्वविवेक पर भी इनकी टीका पाई जाती है। इसके अतिरिक्त व्युत्पत्तिवाद, शक्तिवाद आदि विषयों पर इनके स्फुट निबन्ध उपलब्ध हैं जो कि विषय गाम्भीर्य के कारण स्वतन्त्र ग्रन्थ रूप में प्रसिद्ध हो गए।

4.4 न्यायवैशेषिक के प्रकरणग्रन्थ

जैसा कि प्रारम्भ में बताया गया कि न्याय और वैशेषिक–दर्शनों में आंशिक असमानताओं के रहने पर भी अधिकांश समानता ही है। अतः न्यायवैशेषिक समान तन्त्र माने जाते हैं। न्याय तथा वैशेषिक–दर्शन में वर्ण्य विषय की समानता के कारण घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रकरण ग्रन्थ के लेखनकाल में न्यायवैशेषिक अभिन्न माने जाने लगे। किन्तु प्रकरण–ग्रन्थों को विद्वानों ने दो कोटियों में विभाजित किया – (1) वैशेषिकप्रधान प्रकरण–ग्रन्थ, (2) न्यायप्रधानप्रकरण–ग्रन्थ। प्रथम में वैशेषिक–पदार्थों का प्रधानरूपेण वर्णन किया है तथा द्वितीय में न्याय के पदार्थों का प्रधानरूप से वर्णन किया गया है।

न्याय एवं वैशेषिक–दर्शन की समानता – दोनों दर्शनों की समानता यह है कि दोनों दर्शन वस्तुवादी हैं। जगत् एवं ईश्वर की सत्ता दोनों स्वीकार करते हैं। दोनों ही दर्शन पृथिवी, जल, तेज, वायु के कार्यरूप एवं परमाणु रूप स्वीकार करते हैं। परमाणु की सत्ता को मानते हुए द्वयणुकादि क्रम से कार्य द्रव्य की उत्पत्ति एवं विनाशप्रक्रिया को दोनों मानते हैं। दोनों ही दर्शन धर्म से भिन्न धर्मी की सत्ता मानते हैं। दोनों असत् कार्यवादी हैं, समवायि असमवायि एवं निमित्त कारणों को दोनों मानते हैं। आत्मा की सत्ता तथा उसकी उत्पत्ति में अदृष्ट को कारण दोनों मानते हैं। आत्मनियन्ता सृष्टिकर्ता एवं प्रलयविधाता ईश्वर हैं। बन्ध मोक्ष भी होता है, तथा तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है, ये दोनों में समान है।

न्याय एवं वैशेषिक की भिन्नता – वैशेषिक मुख्यतः भौतिक जगत् का वर्णन करता है और न्याय मुख्यतः प्रमाण प्रमेयादि का। वैशेषिक छह द्रव्य मानता है तथा इनके साधर्म्य–वैधर्म्य के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति मानता है। तथा न्याय षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति स्वीकार करता है। वैशेषिक प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों को ही मानता है तथा शब्द एवं उपमान का उसी में अन्तर्भाव मानता है। जबकि न्याय प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द चार प्रमाणों को मानता है। वैशेषिक अनुमानप्रयोग में हेतु का पक्षसत्त्व आदि तीन रूप ही मानता है। इस आधार पर हेत्वाभास भी तीन मानता है, जबकि न्यायदर्शन हेतु के पक्षसत्त्व सपक्षसत्व आदि पाँच रूप मानता है, तथा इस आधार पर पाँच हेत्वाभासों को मानता है। पाकजोत्पत्ति के विषय में वैशेषिक पीलुपाकवादी है तथा न्याय पिठरपाकवादी है। वैशेषिक मत में समवायसम्बन्ध का ग्रहण अनुमान से तथा न्यायमत में प्रत्यक्ष से होता है। वैशेषिक दो नित्य तथा विभु द्रव्यों का संयोग नहीं मानता है, न्याय संयोग मानता है। अन्य कतिपय विषयों में भी दोनों में भिन्नता है।

4.4.1 प्रकरणग्रन्थ लेखन परम्परा का विकास

11वीं शती में विद्वानों ने टीका परम्परा का परित्याग कर स्वतन्त्र ग्रन्थ लेखन में प्रवृत्ति दिखाई। इस युग में शास्त्र के सर्वाङ्गीण विवेचन की अपेक्षा किसी विशेष अङ्ग का विवेचन उपयोगी माना जाने लगा, जिसके परिणामस्वरूप एक विशेष प्रकार के ग्रन्थों का लेखनक्रम चल पड़ा, जिसे प्रकरणग्रन्थ कहा जाता है। प्रकरणग्रन्थ सुसम्बद्ध, सरल, संक्षिप्त किन्तु विशद होता है, जिसमें शास्त्र के किसी एक अंश का प्रतिपादन होता है तथा आवश्यकतानुसार अन्य शास्त्रों के उपयोगी अंश का भी प्रतिपादन होता है। इसमें नवीन मन्तव्य भी होते हैं। जैसे कि प्रकरणग्रन्थ का लक्षण कहा गया है –

> शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
> आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः।।

इस तरह प्रकरण एक विशेष प्रकार के ग्रन्थ होते हैं। इनमें सम्बद्धशास्त्र की समग्र विषयवस्तु का नहीं, अपितु उसके अंशों का ऐसा विश्लेषण किया जाता है जो परम्परा से कुछ भिन्न और नये मन्तव्यों से युक्त भी हो सकता है। न्याय और वैशेषिक के सिद्धान्तों में से कुछ अंशों (शास्त्रैकदेश) को चुनकर रचित प्रकरणग्रन्थों की संख्या पर्याप्त है। प्रायः जिन प्रकरणग्रन्थों में न्याय में परिगणित सोलह पदार्थों में वैशेषिकनिर्दिष्ट सात पदार्थों का अन्तर्भाव किया गया है, वे न्यायप्रधान प्रकरण ग्रन्थ हैं– जैसे भासर्वज्ञ (1000 ई.) का न्यायसार, वरदराज (12वीं शती) की तार्किकरक्षा और केशव मिश्र 13वीं शती की तर्कभाषा, और जिन ग्रन्थों में वैशेषिक के सात पदार्थों में न्याय के सोलह पदार्थों का अन्तर्भाव किया गया है, वे वैशेषिकप्रधान प्रकरण–ग्रन्थ हैं– जैसे अन्नंभट्ट का तर्कसंग्रह, विश्वनाथ पंचानन का भाषापरिच्छेद (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली) और लौगाक्षिभास्कर की तर्ककौमुदी। यदि देखा जाए तो उदयनाचार्य की लक्षणावली और शिवादित्य की सप्तपदार्थी भी प्रकरण–ग्रन्थ ही है। कुछ प्रसिद्ध प्रकरणग्रन्थ निम्नलिखित हैं –

1) न्यायबिन्दु – धर्मकीर्ति
2) तत्त्वबिन्दु – वाचस्पति मिश्र
3) लक्षणावली, न्यायकुसुमाञ्जलि – उदयनाचार्य
4) न्यायसार दृ भासर्वज्ञ
5) तत्त्वचिन्तामणि – गङ्गेशोपाध्याय
6) तार्किकरक्षा – वरदराज
7) तर्कभाषा – केशव मिश्र
8) कारिकावली (न्यायसिद्धान्तमुक्तवली) – विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य
9) तर्कसंग्रह – अन्नम्भट्ट

4.5 तर्कसंग्रह की प्रतिपाद्य विषयवस्तु

यह ग्रन्थ न्याय एवं वैशेषिक दोनों दर्शनों को समाहित करने वाला अध्ययन परम्परा में सर्वाधिक पढ़ाया जाने वाला ग्रन्थ है। इसके अध्ययन से न्याय एवं वैशेषिक के सभी मूल सिद्धान्तों का ज्ञान मिल जाता है। इस ग्रन्थ में 'पदार्थों' के विषय में जो कुछ है वह पूर्णतः वैशेषिक के अनुसार है जबकि प्रमाण के विषय में जो कुछ है वह पूर्णतः न्याय के अनुसार है। वस्तुतः इस ग्रन्थ का अधिक भाग चिन्तामणि ग्रन्थ का अनुसरण

करता है। कहने का तात्पर्य है कि गोतम के न्यायसूत्र "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" सूत्र को आधार बनाकर विषय प्रतिपादन की दृष्टि से अन्नम्भट्ट ने विषयवस्तु को प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द तथा अवशिष्ट नामक कुल पाँच परिच्छेदों में विभक्त करते हुए समाहित किया है। जिनका क्रमशः संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है –

प्रत्यक्षपरिच्छेद –प्रत्यक्षपरिच्छेद में अनुबन्धचतुष्टयसूचक मङ्गलाचरण से आरम्भ करते हुए ग्रन्थकार ने द्रव्यादि सप्तपदार्थों का प्रत्येक का निरूपण करने के बाद चतुर्विंशति गुण, पञ्चकर्म, स्मृति–अनुभवादि का निरूपण करते हुए कार्य–कारण के लक्षण एवं भेद विवेचन पुरस्सर षड्विधसन्निकर्ष पर्यन्त विषय को समाहित किया है।

अनुमानपरिच्छेद–अनुमान परिच्छेद में अनुमान लक्षण का निरूपण करते हुए तदङ्गभूत अनुमिति, परामर्श, व्याप्ति, द्विविध अनुमानस्वरूप, पञ्चावयव, त्रिविधलिङ्ग स्वरूप, हेत्वाभासादि का वर्णन किया है।

उपमानपरिच्छेद – इस परिच्छेद में उपमान व उपमिति के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

शब्दपरिच्छेद – शब्दपरिच्छेद में ग्रन्थकार ने शब्दप्रमाण निरूपण करते हुए शाब्दबोधसहकारि कारण आकाङ्क्षा, योग्यता, सन्निधि के निरूपणोपरान्त वाक्यलक्षण बताते हुए वाक्यार्थज्ञान का करण शब्द को स्थापित किया है।

अवशिष्टपरिच्छेद – इस परच्छेद को ग्रन्थकार अयथार्थानुभव के निरूपण से शुरु करते हैं। ततः संशय, विपर्यय, तर्क, स्मृति, अभावादि को निरूपित करते हुए निरूपण के साथ सभी पदार्थों का प्रकृतग्रन्थोक्त सप्तपदार्थों में ही अन्तर्भाव है इस प्रतिज्ञोपसंहारवचन के साथ ग्रन्थ की समाप्ति ग्रन्थान्त मङ्गलाचरण से करते हैं।

4.6 भारतीय दर्शन परम्परा तथा अन्नम्भट्ट एवं उनका तर्कसंग्रह

दर्शनशास्त्र भारतीय ज्ञान–विज्ञान की चिन्तन धारा का निदर्शन करने वाला अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। दर्शन शास्त्र की परम्परा अतीव प्राचीन है। इसकी विभिन्न शाखाओं से भारतीय संस्कृति और ज्ञान की परम्परा प्रभावित है। प्राचीन काल से यह धारा अविच्छिन्न रूप से निरन्तर प्रवहमान है। इस दृष्टि से भारतीय दर्शनों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना प्रासंगिक है। अतः प्रस्तुत प्रसंग के अनुसार इस परम्परा का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

दर्शन शब्दार्थ –दृश्यते अनेन इति दर्शनम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार दर्शन शब्द का सामान्य अर्थ है 'देखने का साधन'। यदि विशेष रूप में देखा जाये तो 'जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाये वह साधन दर्शन है'। दोनों ही अर्थों में दृश्यते अनेन इस करण अर्थ में दृशिर् प्रेक्षणे धातु से "करणाधिकरणयोश्च" इस पाणिनिसूत्र से ल्युट् प्रत्यय कर 'दर्शन' शब्द बनता है, जिससे देखा जाये इस अर्थ में देखने का स्थूल साधन नेत्र है। चक्षुरिन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान जो चाक्षुष प्रत्यक्ष ज्ञान है वही स्थूल रूप में दर्शन शब्द का अभिप्रायार्थ होगा। परन्तु बहुत से अर्थों का ज्ञान चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय नहीं हैं। अतः उन अर्थों को जानने हेतु सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता होती है। इन सूक्ष्म अर्थों को जानने का साधन दर्शन है। इस दृष्टि से जिसके द्वारा प्रकृष्ट रूप से ज्ञान प्राप्त किया जाये, यह दर्शन शब्द का अर्थ होता है। संसार के समस्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त

करने का प्रकृष्ट साधन ही दर्शन शब्द का अर्थ है। प्रकृष्ट ईक्षण में स्थूल सूक्ष्म आन्तर बाह्य सभी अर्थों का दर्शन समाहित है। दृश्यते यत् जो दिखाई पड़ता है इस अर्थ में तत्त्वों का साक्षात्कार भी दर्शन कहलाता है। जैसा कि ईशावास्योपनिषद् के 15वें मन्त्र में कहा है –

> हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
> तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।

यहाँ पर दृष्टये का प्रयोग है। दृष्टि का अर्थ दर्शन है। यहाँ आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए दर्शन शब्द का प्रयोग है। 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' इस छान्दोग्योपनिषद् में आत्मदर्शन के लिए दृश् का प्रयोग होने से दर्शन का अर्थ 'आत्मसाक्षात्कार, आत्मज्ञान' है। सत्य स्वरूप को जानना आत्मदर्शन है। बौद्ध न्याय में इसे 'सम्यक् दृष्टि' तथा जैन न्याय में 'सम्यक् दर्शन' कहा गया है। इस तरह जीव और जगत् के विषय में उनकी उत्पत्ति से लेकर समस्त क्रिया–कलापों को जानने का साधन दर्शन है। सभी धर्मों, मतों और सम्प्रदायों में समन्वय स्थापित करते हुए सब में एक परमेश्वर तत्त्व का दर्शन ही दर्शन है। संसार, जीवन मृत्यु के बन्धन, सुख–दुःख आदि के मूल में रहने वाले अव्यक्त रहस्य को जानना दर्शन है। इस तरह दर्शन शब्द वाङ्मय के उस उस विशेष अङ्ग के लिए रूढ हो गया है जिसमें ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, अध्यात्मविद्या, चित्तविद्या, मनःशास्त्र, तर्क या न्याय आचार–मीमांसा इत्यादि का विवेचन किया गया हो । विराट् ब्रह्माण्ड के अद्भुत एवं असंख्य पदार्थों के समक्ष जीवन की स्थिति एवं सत्ता का विचार, मनुष्य के सुख–दुःख, पुण्य–पाप, जन्म–मरण इत्यादि रहस्यों की जिज्ञासा को लेकर दर्शनशास्त्रों के निर्माण हुए । जीवन की मीमांसा करना दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। अतः जीवन से सम्बद्ध समस्त पदार्थ जो आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक हैं, उनका यथार्थ एवं तात्त्विक–विश्लेषण करना दर्शनशास्त्र का कार्य है।

जहाँ तक दर्शन के विकास का प्रश्न है, वह भी भारतीय सन्दर्भ में, वहाँ कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में भारतीय–दर्शन पद्धति के बीज उपलब्ध होते हैं। पुरुष सूक्त नासदीय सूक्त आदि में दार्शनिक प्रवृत्ति स्पष्ट दृग्गोचर होती हैं। उन्हीं प्रवृत्ति–बीजों के आधार पर उपनिषदादि में दर्शन का विकास देखा जाता है। ब्राह्मण–ग्रन्थों तथा उपनिषदों के आधार पर सांख्य–योग, मीमांसा, वेदान्त, न्यायवैशेषिक–दर्शन का निर्माण उन उन ऋषियों द्वारा किया गया । चार्वाक, बौद्ध एवं जैनदर्शन भी जो वेद की प्रामाणिकता को लेकर नहीं चलते वे भी उपनिषदों की विचार–परम्परा से अनुप्राणित होकर ही विकसित हुए हैं।

दर्शन का प्रयोजन –"सा विद्या या विमुक्तये" इस उक्ति के अनुसार दर्शन–शास्त्र अथवा अध्यात्म–विद्या का परम प्रयोजन त्रिविधदुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति द्वारक परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति है। किसी भी अन्य दर्शनशास्त्र के परमप्रयोजन मोक्षावाप्ति का मार्ग प्रशस्त करने की तरह न्यायशास्त्र भी प्रमाणप्रमेयादि षोडशपदार्थों के तत्त्वज्ञान से दुःख और उसकी कारण–परम्परा का नाश होने से निःश्रेयस की प्राप्ति में कारक है।

जैसा कि इस पाठ की प्रस्तावना में प्रतिपादित कर दिया था कि आस्तिक और नास्तिक दर्शनों के अनुसार इन दर्शनों को दो श्रेणीयों में विभाजित किया है गया है।

दर्शनों की संख्या एवं नाम –भारतीय–दर्शनों का विभिन्न शाखाओं एवं सम्प्रदायों में विकास हुआ है। इसके विकास के आधार पर दर्शनों की निश्चित संख्या बताना कठिन है।

सायण माधव ने अपने सर्वदर्शन–संग्रह में सोलह दर्शन–सम्प्रदायों का उल्लेख किया हैः (1) चार्वाक, (2) बौद्ध, (3) आर्हत (जैन), (4) रामानुजीय, (5) पूर्णप्रज्ञ (माध्व), (6) नकुलीश, (7) पाशुपत, (8) शैव, (9) प्रत्यभिज्ञा, (10) रसेश्वर, (11) औलूक्य (वैशेषिक), (12) अक्षपाद (न्याय), (13) जैमिनीय (पूर्व मीमांसा), (13) पाणिनीय, (14) सांख्य, (15) पातञ्जल (योग), (16) शांकर (अद्वैत वेदान्त)।

शिवमहिम्न–स्तोत्र टीका में मधुसूदन सरस्वती ने 6 आस्तिक एवं 6 नास्तिक, कुल 12 दर्शन–सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। आस्तिक–दर्शन – (1) सांख्य, (2) योग, (3) कर्ममीमांसा, (4) शारीरकमीमांसा (ब्रह्ममीमांसा), (5) न्याय, (6) वैशेषिक।

नास्तिक दर्शन – (1) माध्यमिक, (2) योगाचार, (3) सौत्रान्तिक, (4) वैभाषिक, (5) चार्वाक, (6) दिगम्बर (जैन)।

अन्नम्भट्ट तथा उनका तर्कसंग्रह –भारतीय दर्शन वाङ्मय परम्परा को अनेक भारतीय मनीषियों ने स्वमनीषा से पुष्ट चिन्तन धारा को आधार बनाकर लिखे गए ग्रन्थों से पुष्पित पल्लवित किया है। इसी धारा को आगे बढ़ाने में अन्नम्भट्ट का भी अतुलनीय योगदान है। उपरि वर्णित छः आस्तिक दर्शनों में से दो वैशेषिक एवं न्याय दर्शनों के प्रतिपाद्य विषयों को लेकर अन्नम्भट्ट ने जिस तर्कसंग्रह ग्रन्थ की रचना की वह कलेवर में अतीव लघु होते हुए भी तदीयशास्त्रविषयक ज्ञान प्राप्त कराने की दृष्टि से उसका कद बहुत बड़ा है। इस ग्रन्थ की महत्ता इसी से ज्ञात हो जाती है कि न्यायशास्त्र में प्रवेश की इच्छा रखने वाला प्रत्येक जिज्ञासु न्यायशास्त्र का आरम्भ इसी से करता है । इस लघुकलेवरीय ग्रन्थ का अन्य वैशिष्ट्य यह भी है कि इसके मूल को स्पष्ट करने के लिए कई टीकाएँ लिखी गई। उनमें से स्वयं ग्रन्थकार ने जो स्वोपज्ञ टीका दीपिका लिखी तो उस पर ही कालान्तर में कई टीकाएँ विद्वानों द्वारा लिखी। इसी से इसका प्राशस्त्य द्योतित होता है। और इस प्रकार धीरे–धीरे अध्ययन अध्यापन परम्परा में दीपिका सहित तर्कसंग्रह का अध्ययन ही प्रचलन में आ गया। तर्कसंग्रह की प्रतिपाद्य विषयवस्तु की चर्चा हम पूर्व में पाठ के मध्य कर चुके हैं । तर्कसंग्रह की तथा दीपिका पर लिखी गई प्रसिद्ध टीकाएँ इस प्रकार हैं –

तर्कसंग्रह की टीकाएँ व उनके कर्ता– न्यायबोधिनी : गोवर्धनकृत, वाक्यवृत्तिः : मेरुशास्त्रि, निरुक्ति : जगन्नाथशास्त्री, पट्टाभिरामटिप्पणी : पट्टभिरामशास्त्री, पदकृत्य : चन्द्रजसिंह।

दीपिका की टीकाएँ व उनकेकर्ता : रामरुद्रीय : रामरुद्रभट्ट, नृसिंहप्रकाशिका : रायनरसिंहशास्त्री, नीलकण्ठप्रकाशिका : नीलकण्ठशास्त्री, पट्टाभिरामप्रकाशिका : पट्टाभिरामशास्त्री।

इनके अलावा मूल तर्कसंग्रह और इसकी टीका दीपिका पर अब तक प्राचीन व अर्वाचीन कुल मिलाकर 90 से अधिक टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। इसी से इसकी महिमा और महनीयता द्योतित होती है।

4.7 सारांश

प्रिय छात्रो ! इस प्रकार इस इकाई में हमने जिन बिन्दुओं को लेकर अध्ययन किया वे इस प्रकार से हैं – सबसे पहले हमने प्रस्तावना के माध्यम से इस पाठ में विचारणीय विषयों परप्रकाश डाला। तदन्तर्गततया भारतीय दर्शन परम्परा का स्थूल परिचय कराते हुए उसकी आस्तिक और नास्तिक धाराओं में विभक्त द्विविध दर्शनों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त किया। तदुपरान्त अन्नम्भट्ट के जीवनवृत्त पर प्रकाश डालते हुए उनकी कृतियों के बारे में जाना। उसके बाद न्याय–वैशेषिक परम्परा का वर्णन करते हुए न्याय वैशेषिक शास्त्र के प्रमुख प्रकरण ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषयों का दिङ्मात्र निर्देश किया। फिर इस खण्ड की मुख्य विषयवस्तु के मूल तर्कसंग्रह की प्रतिपाद्य विषयवस्तु का परिच्छेदानुसारेण विवेचन किया। अन्त में भारतीय दर्शन परम्परा में अन्नम्भट्ट के अमूल्य योगदान तथा उनकी मुख्य कृति तर्कसंग्रह के स्थान व महत्त्व बारे में चर्चा करते की।

4.8 शब्दावली

न्याय – नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरिति न्यायः।

नैयायिक – न्यायशास्त्र को जानने वाले।

वैशेषिक – विशेष पदार्थ की सत्ता को मानने वाले तथा वैशेषिक शास्त्र को जानने वाले।

प्रमाण – प्रमाकरणं प्रमाणम् इस उक्ति के अनुसार जिस साधन से प्रमेय की सिद्धि की जाती हो वह प्रमाण कहलाता है।

निःश्रेयस – मोक्ष

प्रत्यक्ष – इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है।

प्रकरण – ग्रन्थ का एक भेद। प्रकरणग्रन्थ सुसम्बद्ध, सरल, संक्षिप्त किन्तु विशद होता है, जिसमें शास्त्र के किसी एक अंश का प्रतिपादन होता है तथा आवश्यकतानुसार अन्य शास्त्रों के उपयोगी अंश का भी प्रतिपादन होता है।

4.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- तर्कसंग्रह (दीपिकासहित), हिन्दी व्याख्याकार डॉ. दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1971।
- तर्कसंग्रह (प्राचीन नौ टीका सहित), चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पुनर्मुद्रण–2006।
- Tarkasangraha of Annambhatta, Yashawant Vasudeva Athalye and Mahadev Rajaram Bodas, Bombay Sanskrit Series No. LV, Second Edition 1930
- संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास (न्याय खण्ड – 9), प्रधानसम्पादक पद्मभूषण श्री बलदेव उपाध्याय, सम्पादक, श्री गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर।

4.10 अभ्यास प्रश्न

1. न्याय शब्द की कोई एक व्युत्पत्ति क्या है?
2. वैशेषिक शास्त्र का नामकरण वैशेषिक क्यों पड़ा?
3. दर्शन से क्या तात्पर्य है?
4. न्यायसूत्रकार कौन हैं?
5. वैशेषिकसूत्रकार कौन हैं?
6. न्यायवार्तिककार कौन हुए?
7. न्यायसूत्रकार को किन–किन नामों से जाना जाता है?
8. वैशेषिकशास्त्र के किन्हीं तीन आचार्यों के नाम लिखो?
9. नव्य न्याय से क्या तात्पर्य है?
10. नव्य न्याय का आविर्भाव किस आचार्य से माना जाता है?
11. उदयनाचार्य ने किन ग्रन्थों की रचना की?
12. प्रकरणग्रन्थ से क्या तात्पर्य है?
13. छः आस्तिक दर्शन कौन कौन से हैं?
14. अन्नम्भट्ट ने कौन–कौन से ग्रन्थ लिखें है?

इकाई 5 पदार्थ और द्रव्य निरूपण

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- पदार्थ का लक्षण, स्वरूप तथा उसके भेदों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- द्रव्य के स्वरूप एवं उसके भेदों का ज्ञान करेंगे।
- चतुर्विंशति गुण के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- पञ्चविध कर्म के स्वरूप से परिचित होंगे।
- सामान्य तथा उसके भेदों का विस्तृत बोध करेंगे।
- समवाय एवं विशेष के स्वरूप से अवगत होंगे।
- अभाव एवं उसके भेदों का विस्तृत बोध करेंगे; तथा
- पदार्थ एवं द्रव्य विवेचन में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली तथा विशिष्ट प्रयोग विधि का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

5.1 प्रस्तावना

दार्शनिक समप्रत्ययों में दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति 'दृशिर् प्रेक्षणे' धातु से करण अर्थ में 'ल्युट् प्रत्यय' तथा भाव अर्थ में 'घञ् प्रत्यय' करके 'दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम्' तथा 'दृश्यते इति दर्शनम्' को स्वीकार किया जाता है। 'प्रेक्षण' का अर्थ है – विचार करना, अतः इस व्युत्पत्ति के अनुसार विचार करने के सभी साधन तथा विचार क्रिया के समस्त विषय दार्शनिक विश्लेषण की परिधि में आ जाते हैं।

समस्त भारतीय दर्शनों का परमलक्ष्य अन्ततः एक ही है और वह है 'जागतिक दुःख की निवृत्ति'। विशुद्ध भौतिकतावादी चार्वाक से लेकर पराप्रत्ययवादी विज्ञानवाद तक सभी दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रधान लक्ष्य है मनुष्य को अनुभूत होने वाले दुःखत्रय

(आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक) से ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति। भारतीय दार्शनिकों नें इस पर चिन्तन किया कि क्या सांसारिक सुख ही परमप्रयोजन हो सकते हैं? इस विषय पर प्रायः अधिकतर दार्शनिक एकमत हैं कि सांसारिक सुख केवल क्षणिक हैं, वें अधिक समय तक सुख प्रदान नहीं करते। तो वो कौन सा ऐसा सुख है जो आत्यन्तिक है तथा आत्यन्तिक दुःख के अभाव वाला है। इस प्रश्न के उत्तर में भारतीय दर्शन मोक्ष को कहते हैं, यद्यपि इसकी व्याख्या भारतीय दर्शनों नें अलग–अलग रूप में की है तथापि इसकी आधारशिला आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति तथा आत्यन्तिक दुःख के अभाव वाली है। इस सन्दर्भ में सभी भारतीय दार्शनिक इस तथ्य से भी सहमत हैं कि मनुष्य के दुःख अथवा बन्धन का मूल कारण 'अविद्या' है। मानव जीवन में अनुभूयमान विविध प्रकार के दुःखों की निर्वृत्ति तथा उपेयभूत मोक्ष की प्राप्ति 'तत्त्वज्ञान' से होती है।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्परा स्वाभिमत सैद्धान्तिक चिन्तन को जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए तीन पद्धतियों का प्रयोग करती है – तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा तथा आचारमीमांसा। तत्त्वचिन्तन की इस प्रक्रिया में तत्त्वमीमांसा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि प्रमाणों की सहायता से (तत्त्वों) का यथार्थज्ञान होने पर ही परमलक्ष्यभूत मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित तत्त्वमीमांसा के अनुसार 'द्रव्य–गुण–कर्म–सामान्य–विशेष–समवाय–अभाव' इन सप्त पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

5.2 पदार्थ निरूपण

5.2.1 पदार्थ निरूपण (द्रव्यगुणकर्म से अन्योन्याभावश्चेति पर्यन्त)

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त पदार्थाः।

व्याख्या : प्रस्तुत अनुच्छेद में तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नंभट्ट वैशेषिक परम्परा में स्वीकृ त पदार्थ के स्वरूप का विवेचन करते हैं। आचार्य के अनुसार इस संसार में जितने भी पदार्थ हैं, जो कि अभिधेय हैं, उन सभी को सात कोटियों में समाहित किया जा सकता है। इन्हीं सप्त पदार्थों के अन्तर्गत सम्पूर्ण संसार को अर्थ रूप में समझा जाता है। इन सप्त पदार्थों से अधिक किसी अन्य अर्थ की इस जगत में कोई सत्ता नहीं है। आचार्य के अनुसार पदार्थों की संख्या नियत रूप से सात ही है क्योंकि इससे कम पदार्थ को मानने पर सम्पूर्ण जगत का कथन नहीं हो पायेगा। इन सप्त पदार्थों का नामोल्लेख करते हुए आचार्य कहते हैं – 'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव' ये सप्त पदार्थ हैं।

मानव अपने व्यावहारिक जीवन में जितने भी वस्तुओं की अनुभूति करता है तो उसके मन में संसार की समस्त वस्तुओं को जानने की इच्छा जाग्रत होती है। इस संसार में वस्तुओं की संख्या अनन्त है तथा किसी भी मनुष्य के लिए उन सभी को जान पाना सम्भव नहीं है। दार्शनिक इस समस्या के समाधान में एक युक्ति प्रस्तुत करता है कि यदि हम वस्तुओं के मध्य की पारस्परिक समानता को पहचान लें तो एक वस्तु को जान लेने पर उसके समान गुणधर्म वाली अन्य वस्तुओं का भी सामान्य ज्ञान हमें हो सकता है। इसीलिए दार्शनिक सम्प्रत्ययों में विश्व की समस्त वस्तुओं को वर्गीकृत करके उनका विश्लेषण किया जाता है। न्याय–वैशेषिक दर्शन में इस वर्गीकरण को 'पदार्थ' शब्द से अभिहित किया गया है। 'पदस्य अर्थः पदार्थः' अर्थात् पद के अर्थ को

पदार्थ कहते हैं। यद्यपि विश्व में पदों की संख्या असंख्य है किन्तु 'अर्थ' केवल सात ही हैं। न्याय–वैशेषिक मतानुसार 'अभिधेय होना' (किसी शब्द के द्वारा कथित होना), 'ज्ञेय होना' (ज्ञान का विषय होना) तथा 'प्रमेय होना' (प्रमा का विषय होना) ये सभी सातों पदार्थों का समान धर्म है। इन सात पदार्थों को हम प्रथमतः दो कोटियों में विभाजित कर सकते हैं– भाव पदार्थ तथा अभाव पदार्थ। भाव पदार्थ 6 हैं– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय। अभाव सप्तम पदार्थ है।

गुण एवं कर्म का अधिकरण होना 'द्रव्य' का सामान्य लक्षण है। 'गुण' वह है वह द्रव्य के आश्रित रहता हो तथा गुणत्व से युक्त हो। संयोग से भिन्न होते हुए जो संयोग का असमवायिकारण हो उसे 'कर्म' कहा जाता है। अनुगत प्रतीति (समानता की प्रतीति) के नियामक को 'सामान्य' कहते हैं। अन्त्यावयवी पदार्थविभाजक धर्म 'विशेष' कहलाता है। अयुतसिद्ध पदार्थों के मध्य का सम्बन्ध 'समवाय' कहलाता है। नञ् प्रतीति के विषयभूत पदार्थ को 'अभाव' कहते हैं।

विशेष : वैशेषिक दर्शन के आरम्भिक समय में केवल 6 पदार्थ ही माने गए हैं। वैशेषिकसूत्रकार कणाद तथा भाष्यकार प्रशस्तपाद ने 'द्रव्य, गुण. कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय' को ही पदार्थ माना है। 10वीं शताब्दी के लगभग आचार्य शिवादित्य ने 'सप्तपदार्थी' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें उन्होंने इन 6 पदार्थों के अतिरिक्त 'अभाव' को एक पृथक् पदार्थ स्वीकार करते हुए वैशेषिक दर्शन में 7 पदार्थों की मान्यता का प्रारम्भ किया। उनके अनन्तर वैशेषिक परम्परा में सभी आचार्यों ने पदार्थों की संख्या को 7 ही स्वीकार किया है।

तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव।

व्याख्या : वैशेषिक मतानुसार संसार की समस्त वस्तुओं को सात कोटियों में वर्गीकृत किया जा सकता है जिन्हें 'पदार्थ' कहा जाता है। ये सप्त पदार्थ हैं – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय एवं अभाव। प्रस्तुत प्रसंग में आचार्य अन्नम्भट्ट इन सप्त पदार्थों में से प्रथम पदार्थ 'द्रव्य' का निरूपण करते हुए कहते हैं कि द्रव्यों की संख्या 9 है – पृथिवी, अप(जल), तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा एवं मन। यहाँ 'नवैव' कहने का आशय है कि द्रव्यों की संख्या नियत रूप से 9 ही है अर्थात् द्रव्य न तो नौ से अधिक हैं और न ही इनकी संख्या नौ से कम है। आचार्य के इस कथन से मीमांसा दर्शन में स्वीकृत 'तमस्' को दशम द्रव्य मानने की अवधारणा का निराकरण हो जाता है।

न्याय : वैशेषिक दर्शन में 'द्रव्य' की पहचान करने के लिए मुख्यतः चार लक्षण किए जाते हैं – (1) द्रव्यत्वजातिमत्त्वम् द्रव्यत्वम्, (2) गुणवत्त्वम् द्रव्यत्वम्, (3) क्रियावत्त्वम् द्रव्यत्वम्, (4) समवायिकारणत्वम् द्रव्यत्वम्। अर्थात् द्रव्यत्व जाति से युक्त होना, गुणों का आश्रय होना, क्रिया (कर्म) का आश्रय होना अथवा किसी कार्य का समवायिकारण होनाय यह सभी द्रव्य का सामान्य लक्षण है। प्रथम लक्षण का आशय है कि संसार के जितने भी पदार्थ एक समान होते हैं उनकी एक साथ पहचान करने के लिए उन सबमें सामान्य या जाति को निर्धारक माना जाता है। यह जाति अपने आश्रयभूत समस्त व्यक्तियों में रहती है तथा जातिमत्त्व का अभिधान होने पर उन सभी व्यक्तियों का परिचायक होती है। यथा – 'घटत्व' एक जाति है जिसमें समस्त घट समाहित हैं। इसी प्रकार 'द्रव्यत्व' के अन्तर्गत संसार के समस्त द्रव्य आ जाते हैं। द्वितीय लक्षण 'गुणवत्त्व' का अभिप्राय है कि गुण कभी भी निराश्रित नहीं रहते हैं। सभी गुणों को रहने के लिए कोई न कोई आश्रय अवश्य चाहिए होता है। न्याय–वैशेषिक मत में गुणों

का आश्रय बनने की योग्यता केवल द्रव्य में ही होती है, इसलिए 'गुणवत्व' होना द्रव्य का लक्षण बन जाता है। इसी प्रकार कर्म अर्थात् क्रिया भी सदैव किसी न किसी आश्रय में ही होती है, अतः जो क्रिया का आश्रय बनता है वह द्रव्य कहलाता है। 'समवायिकारणम् द्रव्यम्' का अर्थ है कि इस संसार में जितने भी कार्य होते हैं, उन सभी को उत्पन्न होने के लिए तीन प्रकार के असाधारण कारणों की आवश्यकता होती है – समवायिकारण, असमवायिकारण तथा निमित्तकारण। समवायिकारण वह कारण होता है जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य की उत्पत्ति होती है। समवाय सम्बन्ध से कार्य केवल द्रव्य में ही उत्पन्न होता है अतः कार्यमात्र का समवायिकारण होना 'द्रव्य' का लक्षण है।

विशेष : न्याय–वैशेषिक मत में किसी भी पदार्थ का ज्ञान करने के लिए 'उद्देश, लक्षण एवं परीक्षा' की विधि का अनुपालन किया जाता है। उद्देश का अर्थ है– 'नाम्ना वस्तुसंकीर्तनम्' अर्थात् किसी पदार्थ का नामोल्लेख करना ही उद्देश है। 'लक्षणं तु असाधारणधर्मवचनम्' अर्थात् किसी वस्तु का असाधारण धर्म ही उसका लक्षण कहलाता है। लक्षित वस्तु का लक्षण उचित है अथवा नहीं, इसका विचार करने की प्रक्रिया 'परीक्षा' कहलाती है – 'लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारो परीक्षा'। परीक्षा में मुख्यतः यह विचार किया जाता है कि वस्तु का लक्षण किन्हीं प्रकार के दोषों से दूषित तो नहीं है। दोष प्रायः तीन प्रकार के हैं – (1) अव्याप्ति (लक्षण का लक्ष्य के एकदेश में व्याप्त होना) (2) अतिव्याप्ति (लक्षण का लक्ष्य से इतर में व्याप्त हो जाना) तथा (3) असम्भव (लक्षण का अपने लक्ष्य में ही व्याप्त न होना)। इन त्रिविध दोषों से रहित लक्षण को ही निर्दुष्ट लक्षण कहा जाता है।

रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहशब्दबुद्धिसुख दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराश्चतुर्विंशतिगुणाः।

व्याख्या : वैशेषिक मतानुसार संसार की समस्त वस्तुओं को सात कोटियों में वर्गीकृत किया जा सकता है जिन्हें 'पदार्थ' कहा जाता है। ये सप्त पदार्थ हैं – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय एवं अभाव। प्रस्तुत प्रसंग में आचार्य अन्नम्भट्ट इन सप्त पदार्थों में से द्वितीय पदार्थ 'गुण' का निरूपण करते हुए कहते हैं कि गुणों की संख्या 24 है – रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म एवं संस्कार।

वैशेषिक सूत्र में गुण का लक्षण इस प्रकार से किया गया है – 'द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्' (वैशेषिक सूत्र, 1.1.16) अर्थात् जो द्रव्य के आश्रित हो, गुणरहित हो तथा संयोग–विभाग के प्रति स्वतन्त्र कारण न हो वह गुण कहलाता है। इस लक्षण के अनुसार गुणों की पहचान का सबसे पहला तरीका यह है कि गुणों को किसी न किसी द्रव्य के आश्रित होना चाहिए। किन्तु चूँकि एक द्रव्य भी किसी अन्य द्रव्य के आश्रित रह सकता है अतः लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आने लगता है जिससे व्यावृत्ति के लिए 'गुणरहित' विशेषण का योजन किया गया है। किन्तु ऐसा करने पर भी यह लक्षण 'कर्म' में अतिव्याप्त होने लगता है क्योंकि कर्म भी द्रव्याश्रित होता है तथा इसमें भी गुण नहीं रहते हैं। अतः लक्षण में कर्म की व्यावृत्ति के लिए 'संयोग और विभाग के प्रति स्वतन्त्र कारण न होना' योजित किया गया है क्योंकि कर्म संयोग–विभाग के प्रति कारण होता है जबकि गुणों में यह कारणता नहीं होती है। तर्कसंग्रह की दीपिका टीका में गुण के लक्षण को 'गुणत्वजातिमान्' के रूप से

व्याख्यायित किया गया है। गुण का एक लक्षण आचार्य विश्वनाथकृत् 'भाषापरिच्छेद' में इस प्रकार से है – 'अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः' अर्थात् गुण, द्रव्याश्रित, निर्गुण तथा निष्क्रिय होता है।

इन गुणों का स्वरूप तर्कसंग्रहकार ने इस प्रकार से निरुपित किया है – चक्षुरिन्द्रिय मात्र से ग्राह्य गुण 'रूप' कहलाता है। रसनेन्द्रिय से ग्राह्य गुण को 'रस' कहते हैं। घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाने वाला गुण 'गन्ध' कहलाता है। त्वगेन्द्रिय से ग्राह्य गुण को 'स्पर्श' कहते हैं। एकत्व, द्वित्व आदि व्यवहार का हेतुभूत गुण 'संख्या' है। मान (अणु, महत्, दीर्घ एवं ह्रस्व) के व्यवहार का असाधारण कारण 'परिमाण' कहलाता है। पृथक्–व्यवहार (यह इससे पृथक् है) का असाधारण कारण 'पृथक्त्व' कहलाता है। संयुक्त व्यवहार (ये परस्पर जुड़े हैं) के हेतुभूत गुण को 'संयोग' कहते हैं। संयोग का नाशक गुण 'विभाग' कहलाता है। दूरी तथा निकटता के व्यवहार का निमित्तकारण 'परत्व' तथा 'अपरत्व' है। प्रथम पतन के प्रति असमवायिकारण बनने वाला गुण 'गुरुत्व' कहलाता है। आद्य स्यन्दन का असमवायिकारण गुण 'द्रवत्व' है। चूर्णादि को पिण्डाकार करने में हेतुभूत गुण को 'स्नेह' कहते हैं। श्रोतेन्द्रिय से ग्राह्य गुण 'शब्द' कहलाता है। मानव के समस्त व्यवहारों का प्रायोजक गुण 'बुद्धि (ज्ञान)' कहलाता है। सभी को अनुकूल प्रतीत होने वाला गुण 'सुख' तथा प्रतिकूल प्रतीत होने वाला गुण 'दुःख' है। कामना ही 'इच्छा' है। क्रोध को 'द्वेष' कहते हैं। कृति ही 'प्रयत्न' है। शास्त्रविहित कर्मों से जन्य अदृष्ट को 'धर्म' तथा शास्त्रनिषिद्ध कर्मो से जन्य अदृष्ट को 'अधर्म' कहते हैं। वेग, भावना एवं स्थितिस्थापक ये तीन 'संस्कार' हैं।

विशेष : वैशेषिकसूत्रकार ने केवल 17 गुणों का कथन किया है – रूपरसगन्धस्पर्शसंख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्च गुणाः (वैशेषिकसूत्र 1.1.5)। परवर्ती टीकाकारों ने सूत्रगत 'च' शब्द के द्वारा 'गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म तथा शब्द' इन सात गुणों को जोड़कर गुणों की संख्या 24 कर दी। इन 24 गुणों में बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, स्वाभाविक द्रवत्व, धर्म, अधर्म, भावना तथा शब्द ये 'विशेष गुण' हैं क्योंकि ये एक समय में एक ही द्रव्य में रहते हैं। इनके अतिरिक्त शेष सभी गुण 'सामान्य गुण' हैं क्योंकि वे एक साथ दो या दो से अधिक द्रव्यों में रहते हैं।

उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानि पञ्च कर्माणि।

व्याख्या : वैशेषिक मतानुसार संसार की समस्त वस्तुओं को सात कोटियों में वर्गीकृत किया जा सकता है जिन्हें 'पदार्थ' कहा जाता है। ये सप्त पदार्थ हैं – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय एवं अभाव। प्रस्तुत प्रसंग में आचार्य अन्नम्भट्ट इन सप्त पदार्थों में से तृतीय पदार्थ 'कर्म' का निरूपण करते हुए कहते हैं कि कर्म पांच हैं – उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण एवं गमन। वैशेषिकसूत्रकार कणाद ने कर्म की परिभाषा की है– 'एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षं कारणमिति कर्मलक्षणम्' (वैशेषिकसूत्र, 1.1.17) अर्थात् जो किसी एक द्रव्य के आश्रित हो तथा गुण से भिन्न होते हुए संयोग–विभाग का अनपेक्ष (तात्कालिक) कारण हो, उसे कर्म कहते हैं। दीपिकाकार का लक्षण है – 'संयोगभिन्नत्वे सति संयोगासमवायिकारणं कर्म' – संयोग से भिन्न होते हुए जो संयोग का असमवायिकारण हो वह कर्म कहलाता है। तर्कसंग्रहकार ने कर्म का लक्षण किया है – 'चलनात्मकं कर्म' अर्थात् चलन (गति, गमन आदि) क्रिया को कर्म कहते हैं।

कर्म के 5 भेद हैं –

1) **उत्क्षेपण** : 'उर्ध्वदेशसंयोगाऽसमवायिकारणं कर्म उत्क्षेपणम्' अर्थात् मूर्त द्रव्यों का ऊर्ध्ववदेश (उपर की ओर) के साथ जो संयोग होता है, उसका असमवायिकारण कर्म 'उत्क्षेपण' कहलाता है। जैसे – किसी वस्तु को उ पर उछालने पर होने वाला कर्म।

2) **अवक्षेपण** : 'अधःदेशसंयोगाऽसमवायिकारणं कर्म अवक्षेपणम्' अर्थात् मूर्त द्रव्यों का अधःदेश (नीचे की ओर) के साथ जो संयोग होता है, उसका असमवायिकारण कर्म 'अवक्षेपण' कहलाता है। जैसे – किसी वस्तु को नीचे गिराने पर होने वाला कर्म।

3) **आकुञ्चन** : 'अभिमुखदेशसंयोगाऽसमवायिकारणं कर्म आकुञ्चनम्' अर्थात् मूर्त द्रव्यों का अभिमुखदेश (सामने की ओर) के साथ जो संयोग होता है, उसका असमवायिकारण कर्म 'आकुञ्चन' कहलाता है। जैसे – किसी वस्तु को सिकोड़ने पर होने वाला कर्म।

4) **प्रसारण** : 'तिर्यक्संयोगाऽसमवायिकारणं कर्म प्रसारणम्' अर्थात् मूर्त द्रव्यों का तिर्यक्देश के साथ जो संयोग होता है, उसका असमवायिकारण कर्म 'प्रसारण' कहलाता है। जैसे – किसी वस्तु को सिकोड़ने पर होने वाला कर्म।

5) **गमन** : 'अनियतोत्तरदेशसंयोगाऽसमवायिकारणं कर्म गमनम्' अर्थात् मूर्त द्रव्यों का अनियत उत्तरदेश के साथ जो संयोग होता है, उसका असमवायिकारण कर्म 'गमन' कहलाता है। जैसे – चलने पर होने वाला कर्म।

विशेष: न्यायवैशेषिक मत में कर्म सदा अनित्य होता है तथा कर्मत्व जाति का प्रत्यक्ष स्वीकार किया जाता है । इन पंच कर्मों के अतिरिक्त 'भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, ऊर्ध्वज्वलन, तिर्यक्गमन, नमन, उन्नमन आदि समस्त कर्मों का गमन में अन्तर्भाव हो जाता है। कर्म नामक पदार्थ पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा मन में समवायसम्बन्ध से रहता है।

परमपरं चेति द्विविधं सामान्यम्।

व्याख्या : तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नंभट्ट वैशेषिकदर्शन में स्वीकृत सप्त पदार्थों में 'सामान्य' नामक पदार्थ का विभाग करते हुए कहते हैं कि सामान्य दो प्रकार का होता है– परसामान्य तथा अपरसामान्य।

वैशेषिकदर्शन में सामान्य पदार्थ की स्थापना एक विशेष उद्देश्य से की गई है। इस पदार्थ की स्वीकृति के पीछे का विचार यह है कि लोक में जब हम विविध प्रकार के पदार्थों का अनुभव करते हैं तो हमें अनेक ऐसे पदार्थ अनुभूत होते हैं जो आपस में एक समान होते हैं। यह समानता इतनी अधिक होती है कि हम एक जैसी वस्तुओं को एक ही नाम से सम्बोधित करने लगते हैं। यथा– एक घट का अनुभव (अयं घटः) होने के उपरान्त जब हम उसी प्रकार का दूसरा पदार्थ देखते हैं तो उस दूसरे पदार्थ के साथ भी हम घट (अयं घटः) की तरह ही व्यवहार करते हैं। यहाँ यह जिज्ञासा होती है की इस समानता की प्रतीति का आधार क्या है अर्थात् वह कौन सा तत्त्व है जो एकाकार वाले पदार्थों में एक जैसी अनुभूति या प्रतीति के लिए उत्तरदायी है। न्याय–वैशेषिक दर्शन में इस समानाकारक प्रतीति के नियामक पदार्थ को ही 'सामान्य' या 'जाति' कहा जाता है।

आचार्य अन्नम्भट्ट ने इसकी परिभाषा की है – 'नित्यमेकमनेकाऽनुगतं सामान्यम्'। जो नित्य हो तथा एक होकर अनेक में अनुगत हो, वह सामान्य कहलाता है। लक्षण में प्रयुक्त 'अनेकानुगत' पद का अर्थ है – अनेक आश्रयों में समवाय सम्बन्ध से रहना। सामान्य के इस लक्षण में तीन विशेषण हैं – नित्यत्व, एकत्व एवं अनेकानुगतत्व। इस लक्षण में यदि 'नित्य' पद न दिया जाय तो संयोगादि में इसकी अतिव्याप्ति होने लगती है क्योंकि संयोग भी एक होते हुए अनेक द्रव्यों में रहता है। पुनः यदि लक्षण में 'एकम्' पद न दिया जाय तो इसकी अतिव्याप्ति जलपरमाणुओं के रूपादि में होने लगती है क्योंकि परमाणुगत रूप नित्य होता है एवं अनेक जलपरमाणुओं में समवायसम्बन्ध से रहता है। पुनश्च यदि लक्षण में 'अनेकानुगता्म्' विशेषण न दिया जाय तो इसकी अतिव्याप्ति आकाशगत परिमाणादि में होने लगती है क्योंकि आकाशपरिमाण एक है तथा नित्य भी है। लक्षण में प्रयुक्त अनुगत पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अनुगत का शाब्दिक अर्थ है – रहना। रहना हमेशा किसी न किसी सम्बन्ध से होता है जैसे पुस्तक मेज पर संयोग सम्बन्ध से रहती है, पुस्तक का नीलारूप पुस्तक में समवाय सम्बन्ध से रहता है। सामान्य के उपरोक्त लक्षण में भी अनुगत पद का अर्थ सामान्य रूप से रहना न होकर समवाय सम्बन्ध से रहना लिया जाता है क्योंकि ऐसा न मानने पर अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति होने लगती है। अत्यन्ताभाव नित्य होता है तथा एक होते हुए अनेक में स्वरूपसम्बन्ध से रहता है। इसी कारण से न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार आचार्य विश्वनाथ ने सामान्य का लक्षण किया है – 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम् सामान्यम्'। सामान्य के दो भेद हैं –

1) **परसामान्य** : अधिक देश (आश्रय) में रहने वाला सामान्य 'परसामान्य' कहलाता है – 'परत्वं अधिकदेशवृतित्त्वम्'। सत्ता को सबसे पर सामान्य माना जाता है।

2) **अपरसामान्य** : अल्प देश (आश्रय) में रहने वाला सामान्य 'अपरसामान्य' कहलाता है – 'अपरत्वं अल्पदेशवृतित्त्वम्'।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि पर और अपर का विभाजन पूर्णतः सापेक्ष है। एक ही जाति पर भी हो सकती है तथा अपर भी। यह निर्भर करता है कि हम किस जाति की तुलना में पर और अपर का निर्धारण कर रहे हैं। यथा – सभी घटों में रहने वाला सामान्य 'घटत्व', सभी पार्थिव पदार्थों में रहने वाला सामान्य 'पृथिवीत्व' तथा सभी द्रव्यों में पाया जाने वाला सामान्य 'द्रव्यत्व' कहलाता है। यदि हम इन तीनों में पर और अपर का निर्धारण करें तो द्रव्यत्व परसामान्य है तथा घटत्व एवं पृथिवीत्व उसकी अपेक्षा अपरसामान्य हैं। घटत्व एवं पृथिवीत्व में पृथिवीत्व परसामान्य है तथा घटत्व अपरसामान्य है। स्पष्ट है कि पृथिवीत्व, घटत्व की अपेक्षा में परसामान्य है किन्तु द्रव्यत्व की अपेक्षा से अपरसामान्य है।

विशेष : न्याय–वैशेषिक दर्शन के अनुसार सामान्य केवल तीन पदार्थों – द्रव्य, गुण एवं कर्म में पाया जाता है। इन तीनों में पाए जाने वाले सामान्य को 'सत्ता' कहते हैं। सामान्य को 'त्व' लगाकर प्रदर्शित किया जाता है। सामान्य होने के लिए केवल समानता की प्रतीति होना ही आवश्यक नहीं है अपितु सामान्य होने के सभी धर्मों (नित्यत्व, एकत्व तथा अनेकानुगतत्व) का भी होना अनिवार्य है। इन तीनों धर्मों के बिना होने वाली समानता की प्रतीति को सामान्य न मानकर उसे 'उपाधि' माना जाता है। यथा – कलशत्व एक उपाधि है। सामान्य को बाधित करने वाले कारक 'जातिबाधक' कहलाते हैं। आचार्य उदयन ने किरणावली में जातिबाधकों की संख्या 6 बताई है – व्यक्ति का अभेद, तुल्यत्व, संकर, अनवस्थिति, रूपहानि एवं असम्बन्ध।

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः।
नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव।

व्याख्या : तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नंभट्ट वैशेषिकदर्शन में स्वीकृत सप्त पदार्थों में 'सामान्य' नामक पदार्थ का विभाग करते हुए कहते हैं कि नित्यद्रव्यों में रहने वाले विशेष अनन्त होते हैं।

वैशेषिकदर्शन में 'विशेष' पदार्थ की स्वीकृति के पीछे का विचार यह है कि लोक में जब हम विविध प्रकार के पदार्थों का अनुभव करते हैं तो हमें अनेक ऐसे पदार्थ अनुभूत होते हैं जो आपस में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। यहाँ यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि इन पदार्थों के मध्य का भेदक (व्यावर्तक) धर्म क्या है। जो पदार्थ स्थूल होते हैं उनका परस्पर व्यावर्तन हम आकार, रंग, व्यवहार, परिमाण, परिणाम आदि के आधार पर आसानी से कर लेते हैं। जैसे – यदि हमें घट एवं पट की भिन्नता बतानी हो तो हम कह सकते हैं कि घट, पट से भिन्न है क्योंकि घट का व्यवहार जलानयन के लिए होता है जबकि पट शरीर को आच्छादित करने में प्रयुक्त होता हैय यहाँ पदार्थ के उपयोग का प्रयोजन ही विभेदक धर्म है। किन्तु यदि हमें दो घटों में परस्पर भिन्नता द्योतित करनी हो तो वहाँ प्रयोजन को विभेदक नहीं बनाया जा सकता है क्योंकि दोनों घटों का प्रयोजन समान हो सकता है। ऐसी स्थिति में हम रंग को या परिमाण को आधार बना सकते हैं अर्थात् यदि एक घट रक्त वर्ण का है एवं दूसरा नील वर्ण का है अथवा एक घट महत्परिमाण का है एवं दूसरा सूक्ष्मपरिमाण का है तो हम आसानी से वर्ण एवं परिमाण को विभेदक धर्म मानकर उन दोनों घटों की भिन्नता बता सकते हैं। पुनः एक ऐसी स्थिति जहाँ दोनों ही घट समान वर्ण, समान आकार एवं समान परिमाण के हों वहाँ इनमें से कोई भी धर्म विभेदक नहीं बन सकता है किन्तु यह तो निश्चित है कि एक घट दूसरे से भिन्न अवश्य है। वैशेषिक दर्शन इस स्थिति में अवयव के भेद से अवयवी का भेद ख्यापित करता है अर्थात् कपालों के भेद से घटों का भेदय कपालों के भी समान होने पर कपालिका के भेद से, कपालिका के भी समान होने पर पिण्ड के भेद से, पिण्ड के भी समान होने पर चतुरणुक के भेद से, चतुरणुक के भी समान होने पर त्रसरेणु के भेद से, त्रसरेणु के समान होने पर द्वयणुक के भेद से, द्वयणुक के भी समान होने पर परमाणु के भेद से घट का भेद किया जा सकता है। किन्तु परमाणु के भी समान होने पर उसका विभेदक कोई अन्य अवयव नहीं हो सकता है क्योंकि न्याय–वैशेषिक मत में परमाणु निरवयव स्वीकार किए जाते हैं। अब यह समस्या आती है कि एक परमाणु को दूसरे परमाणु से पृथक् कैसे किया जाये? इस समस्या के समाधान हेतु वैशेषिक दर्शन 'विशेष' नामक पदार्थ की संकल्पना प्रस्तुत करता है। विशेष वह पदार्थ है जो दो सजातीय परमाणुओं तथा नित्य द्रव्यों के मध्य व्यावर्तन करता है। चूँकि विशेष अन्त में रहता है अर्थात् यह किसी पदार्थ का अन्तिम विभेदक होता है इसलिए इसे 'अन्त्य' कहा जाता है (अन्तेऽवसाने वर्तते इति अन्त्याः)।

आचार्य अन्नम्भट्ट ने विशेष का लक्षण किया है – 'नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषाः' अर्थात् नित्य द्रव्यों में रहने वाले व्यावर्तनकारक पदार्थ को विशेष कहते हैं। न्याय–वैशेषिक मत में पृथिवी, जल, तेज एवं वायु के परमाणु तथा आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन इन 9 को नित्य द्रव्य कहा जाता है। इन्हीं 9 द्रव्यों में वर्तमान रहता हुआ विशेष उनके मध्य परस्पर व्यावर्तन को सम्पादित करता है। यह प्रश्न होने पर कि एक विशेष दूसरे विशेष से पृथक् कैसे होता हैय वैशेषिक दर्शन का कहना है

एक विशेष को दूसरे से अलग करने के लिए किसी अन्य विभेदक की आवश्यकता नहीं होती है अपितु एक विशेष दूसरे को स्वतः पृथक् कर देता है। इसीलिए विशेष का एक लक्षण 'स्वतोव्यावर्तकत्वं विशेषत्वम्' भी स्वीकार किया जाता है। चूँकि नित्य द्रव्यों की संख्या अनन्त है इसलिए विशेष भी अनन्त होते हैं।

विशेष : विद्वानों का मानना है कि विशेष नामक पदार्थ की विशिष्ट मान्यता के कारण ही कणादप्रोक्त दर्शन को वैशेषिक दर्शन कहा जाता है।

समवायस्त्वेक एव।

व्याख्या : आचार्य अन्नम्भट्ट न्याय–वैशेषिक दर्शन की समावेशी परम्परा के आचार्य हैं। उनका ग्रन्थ 'तर्कसंग्रह' एक प्रकरण ग्रन्थ है जिसमें वैशेषिक दर्शन की पदार्थ मीमांसा के साथ न्याय दर्शन में स्वीकृत प्रमाण व्यवस्था का विवेचन किया गया है। पदार्थ मीमांसा के क्रम में आचार्य 'समवाय' का निरूपण करते हुए कहते हैं कि समवाय तो एक ही है।

हमें अपने दैनन्दिन जीवन में कई अनुभूतियाँ ऐसी होती हैं जो विशिष्ट प्रकार की हैं जैसे – 'दुग्ध का रंग सफेद होता है', 'घट में घटत्व है' तथा 'ट्रेन चल रही है' इत्यादि। इन अनुभूतियों को यदि हम विश्लेषित करें तो पाएंगे कि इनमें सफेद रंग (गुण), घटत्व (जाति) तथा चलना (क्रिया) क्रमशः दुग्ध, घट तथा ट्रेन से पृथक् हैं किन्तु हमें इनकी एक साथ प्रतीति होती है। हमें यह भी ज्ञात है कि यदि दो पदार्थ इस प्रकार से प्रतीत हो रहे हैं तो उनके मध्य कोई सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। यह सम्बन्ध संयोग नहीं हो सकता है क्योंकि संयोग सम्बन्ध से जुड़ी हुई वस्तुओं को पृथक् किया जा सकता है किन्तु उपरोक्त अनुभवों में सम्बन्धित वस्तुओं को पृथक् नहीं किया जा सकता है। यदि हम उन्हें किसी तरह पृथक् कर भी लें तो उन दोनों का या उनमें से एक का अस्तित्व निश्चित रूप से समाप्त हो जायेगा। अतः इनमें यदि हम कोई सम्बन्ध स्वीकार करते हैं तो हमें ऐसे सम्बन्ध की कल्पना करनी होगी जो संयोग से भिन्न हो तथा जिसे नष्ट न किया जा सके। ऐसे सम्बन्ध को ही न्याय–वैशेषिक दर्शन में 'समवाय' कहा जाता है।

महर्षि कणाद के अनुसार 'इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः' (वैशेषिकसूत्र) अर्थात् जिसके कारण कार्य और कारण में 'यह इसमें है' इस प्रकार की प्रतीति होती है, वह समवाय है। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि समवाय की कल्पना मूलतः कार्य–कारण की व्याख्या के सन्दर्भ में की गई थी। कार्य–कारण के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि 'कार्य अपनी उत्पत्ति के बाद क्या कारण से पृथक् होकर रहता है अथवा कारण में ही रहता है?' न्याय–वैशेषिक का उत्तर है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पश्चात् भी कारण में ही निवास करता है। इस विशिष्ट सिद्धान्त के अनुसार अवयवों के विशिष्ट संयोजन से जो अवयवी रूप कार्य उत्पन्न होता है, वह अपने अवयवों में ही रहता है। यथा– कपालद्वय के संयोग से जब घट का निर्माण होता है तो कपाल भी बने रहते हैं तथा उन कपालों में घट रुपी अवयवी भी उत्पन्न होकर निवास करने लगता हैय जिसकी अनुभूति हमें इस रूप में होती है कि 'यह (घट) इसमें (कपालों मे) है'; कार्य–कारण का यही सम्बन्ध समवाय है। वैशेषिकभाष्यकार आचार्य प्रशस्तपाद ने इस लक्षण में परिष्कार करते हुए कार्य–कारणभाव से रहित पदार्थों में भी समवाय समबन्ध को स्वीकार किया। उनके अनुसार 'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतुः स समवायः' अर्थात् अयुतसिद्ध आधार–आधेयभूत पदार्थों का वह सम्बन्ध जो इस ज्ञान का हेतु है कि 'यह इसमें है',

वह समवाय कहलाता है। न्याय–वैशेषिक परम्परा में अयुतसिद्ध पदार्थ वे हैं जिन्हें परस्पर पृथक् नहीं किया जा सकता है। तर्कसंग्रह के अनुसार अयुतसिद्ध का लक्षण है – ययोः द्वयोः मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ' अर्थात् अयुतसिद्ध वे दो वस्तुएं हैं जिनमें से एक विनश्यत् अवस्था को छोड़कर सदैव दूसरे पर आश्रित रहती है। जैसे – पटरूप सदैव अपने आश्रयी पट में ही रहता है, पटरूप पट से तभी विभक्त होता है जब पट का विनाश हो जाता है। अतः पटरूप और पट परस्पर अयुतसिद्ध हैं। न्याय–वैशेषिक दर्शन में निम्नलिखित 5 के मध्य का सम्बन्ध अयुतसिद्ध माना जाता है–

1) अवयव–अवयवीय जैसे– तन्तु–पट
2) गुण–गुणीय जैसे– तन्तुरूप–पट
3) क्रिया–क्रियावान्य जैसे– उत्क्षेपण–गेंद
4) जाति–व्यक्तिय जैसे– गोत्व–गो
5) विशेष–नित्यद्रव्य य जैसे– आकाशगतविशेष–आकाश

न्याय : वैशेषिक दर्शन में समवाय को नित्य और एक माना गया है। इसीलिए आचार्य अन्नम्भट्ट ने समवाय का लक्षण किया है – 'नित्यसम्बन्धः समवायः'। यह नित्यसम्बन्ध अयुतसिद्ध पदार्थों के मध्य पाया जाता है।

विशेष : न्याय–वैशेषिक दोनों समवाय को नित्य एवं एक मानते हैं किन्तु वैशेषिक समवाय को अतीन्द्रिय मानते हुए उसे अनुमान प्रमाण से सिद्ध करते हैं जबकि न्यायमत में समवाय का प्रत्यक्ष स्वीकार किया जाता है। न्याय–वैशेषिक दर्शन के अतिरिक्त प्रभाकर मीमांसक भी समवाय को एक पृथक् पदार्थ मानते हैं जबकि अन्य समस्त दार्शनिक सम्प्रत्यय समवाय का खण्डन करते हैं।

अभावश्चतुर्विधः – प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चेति ।

व्याख्या : तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत सप्तम पदार्थ 'अभाव' के भेदों का निरूपण करते हुए कहते हैं कि 'अभाव नामक पदार्थ चार प्रकार का होता है – प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव।

अभाव की सिद्धि इस व्यावहारिक अनुभव के आधार पर की जाती है कि जब कोई वस्तु किसी स्थान पर रखी होती है तो हं कहते है कि 'यह वस्तु यहाँ है' तथा कुछ समय पश्चात् जब वह वस्तु हमें उस स्थान पर उपलब्ध नहीं होती है तो हम कहते हैं कि 'वस्तु यहाँ नहीं है'। यहाँ वस्तु के न होने का अर्थ किया जाता है कि वहाँ 'वस्तु का अभाव' है। जैसे – किसी समयविशेष में कोई पुस्तक किसी मेज पर रखी है तो हमारी अनुभूति है कि 'पुस्तक मेज पर है'। कुछ समय बाद किसी ने पुस्तक मेज से हटाकर अन्यत्र रख दी, हमें जब पुस्तक मेज पर नहीं मिली तो हम कहते हैं कि पुस्तक मेज पर नहीं है जिसका आशय है कि 'मेज पर पुस्तक का अभाव है'। इस विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि सभी प्राणियों को दो प्रकार का अनुभव होता है – 'अत्र पुस्तकं अस्ति' एवं 'अत्र पुस्तकं नास्ति' इनमें से प्रथम अनुभव विधिरूप (भावरूप) है तथा द्वितीय अनुभव निषेधरूप है। इसी निषेधरूप प्रतीति का विषय बनने वाला पदार्थ ही अभाव कहलाता है।

तर्कसंग्रह्कार के अनुसार यह अभाव चार प्रकार का होता है –

1) **प्रागभाव** : 'अनादिः सान्तः प्रागभावः' अर्थात् जो अभाव अनादि एवं सान्त होता है, उसे प्रागभाव कहते हैं। अनादि का अर्थ है – उत्पतिरहित तथा सान्त का अर्थ है – समाप्त होने वाला। आशय यह है कि कोई भी वस्तु अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में विद्यमान नहीं होती है अर्थात् उत्पति से पहले कार्य का कारण में अभाव होता है। यह अभाव कब से है ऐसा निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता है, इसलिए इसे अनादि कहा जाता है। जब कर्त्ता कारणव्यापार का प्रयोग करता है तो वस्तु उत्पन्न हो जाती है, इस स्थिति में कार्यवस्तु का अपने कारण में रहने वाला अभाव सान्त अर्थात् समाप्त हो जाता है। इसी अभाव को प्रागभाव कहा जाता है। जैसे – पट का अपनी उत्पत्ति से पहले तन्तुओं में रहने वाला अभाव।

2) **प्रध्वंसाभाव** : 'सादिरनन्तः प्रध्वंसाभावः' अर्थात् वह अभाव जो सादि हो तथा अनन्त हो, प्रध्वंसाभाव कहलाता है। यहाँ 'सादि' का अर्थ है – उत्पत्तिमान् तथा 'अनन्त' का अर्थ है – नाशरहित। अभिप्राय यह है कि जो अभाव उत्पन्न तो होता है किन्तु जिसका विनाश नहीं होता है, वह प्रध्वंसाभाव है। 'ध्वंस' का अर्थ ही है 'विनाश'। जैसे – जब हम घट पर किसी दण्ड से प्रहार करते हैं तो घट विनष्ट हो जाता है; इसे हम ऐसे भी कह सकते हैं कि घट का अपने कपालों में अभाव हो गया है, यही अभाव का उत्पत्तिमान् (सादि) होना है। पुनश्च विनष्ट हुआ वही घट पुनः उत्पन्न नहीं किया जा सकता है, यही इस अभाव का अनन्त होना है। इस प्रकार दण्डप्रहार से विनष्ट घट का अभाव सादि एवं अनन्त होने के कारण प्रध्वंसाभाव है।

3) **अत्यन्ताभाव** : 'त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः' अर्थात् त्रैकालिक संसर्ग से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाले अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। तात्पर्य यह कि जो अभाव न तो कभी उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है, वही त्रैकालिक बना रहने वाला अभाव है जो अत्यन्ताभाव कहलाता है। यथा – वायु में रूप का अभाव। वायु में रूप नामक गुण का अभाव न तो उत्पन्न किया जा सकता है और न ही इसका अन्त किया जा सकता है अर्थात् यह अभाव नित्य बना रहेगा। यही अत्यन्ताभाव है।

4) **अन्योन्याभाव** : 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावः अन्योन्याभावः' अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाले अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं। यथा – 'घटः पटो न' अर्थात् घट, पट नहीं है जिसका अर्थ है घट में पट का अभाव है। इस अनुभव में घट में पट का जो भेदरूप अभाव प्रतीत हो रहा है, वही अन्योन्याभाव है। यहाँ घट में रहने वाले अन्योन्याभाव का प्रतियोगि पट है जिसमें रहने वाली प्रतियोगिता तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न है क्योंकि घट और पट का तादात्म्य नहीं हो सकता है। अतः दो वस्तुओं के तादात्म्य का अभाव ही अन्योन्याभाव कहलाता है।

विशेष : न्याय–वैशेषिक दर्शन में अभाव को एक पृथक् एवं स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। इनके अनुसार अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है जिसके लिए विशेषण–विशेष्यसन्निकर्ष नामक विशिष्ट संनिकर्षको स्वीकार किया जाता है।

5.2.2 पदार्थनिरूपण (चलनात्मकं कर्म से घटः पटो नेति पर्यन्त)

चलनात्मकं कर्म। ऊर्ध्वदेशसंयोगहेतुरुत्क्षेपणम्। अधोदेशसंयोगहेतुरपक्षेपणम्। शरीरसंनिकृष्टसंयोगहेतुराकुंचनम्। विप्रकृष्टसंयोगहेतुः प्रसारणम्। अन्यत्सर्वं गमनम्। पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्ति।

व्याख्या : चलन स्वभाववाली क्रिया को कर्म कहते हैं। कर्म के 5 भेद हैं :

1) **उत्क्षेपण** : 'उर्ध्वदेशसंयोगहेतुरुत्क्षेपणम्' अर्थात् जिस क्रिया से किसी वस्तु का उर्ध्व प्रदेश से संयोग होता है, उसे उत्क्षेपण कहते हैं।

2) **अपक्षेपण** : 'अधोदेशसंयोगहेतुरपक्षेपणम्' अर्थात् जिस क्रिया से किसी वस्तु का निम्न प्रदेश से संयोग होता है, उसे अपक्षेपण कहते हैं।

3) **आकुञ्चन** : 'शरीरसंनिकृष्टसंयोगहेतुराकुंचनम्' अर्थात् शरीर के निकटस्थ प्रदेश के संयोग का कारण आकुंचन कहलाता है।

4) **प्रसारण** : 'विप्रकृष्टसंयोगहेतुः प्रसारणम्' अर्थात् शरीर के दूरस्थ प्रदेश के संयोग का कारण प्रसारण कहलाता है।

5) **गमन** : 'अन्यत्सर्वं गमनम्' अर्थात् उपरोक्त चारों कर्मों के अतिरिक्त सभी कर्म गमन कहलाते हैं।

कर्म नामक पदार्थ पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा मन में समवायसम्बन्ध से रहता है।

विशेष : न्यायवैशेषिक मत में कर्म सदा अनित्य होता है तथा कर्मत्व जाति का प्रत्यक्ष स्वीकार किया जाता है। इन पंच कर्मों के अतिरिक्त 'भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, ऊर्ध्वज्वलन, तिर्यक्गमन, नमन, उन्नमन आदि समस्त कर्मों का गमन में अन्तर्भाव हो जाता है।

नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्। द्रव्यगुणकर्मवृत्ति। तद् द्विविधम् परापरभेदात्। परं सत्ता। अपरं द्रव्यत्वादि।

व्याख्या : आचार्य अन्नम्भट्ट ने सामान्य की परिभाषा की है – 'नित्यमेकमनेकाऽनुगतं सामान्यम्'। जो नित्य हो तथा एक होकर अनेक में अनुगत हो, वह सामान्य कहलाता है। लक्षण में प्रयुक्त 'अनेकानुगत' पद का अर्थ है – अनेक आश्रयों में समवाय सम्बन्ध से रहना। सामान्य के इस लक्षण में तीन विशेषण हैं – नित्यत्व, एकत्व एवं अनेकानुगतत्व। इस लक्षण में यदि 'नित्य' पद न दिया जाय तो संयोगादि में इसकी अतिव्याप्ति होने लगती है क्योंकि संयोग भी एक होते हुए अनेक द्रव्यों में रहता है। पुनः यदि लक्षण में 'एकम्' पद न दिया जाय तो इसकी अतिव्याप्ति जलपरमाणुओं के रूपादि में होने लगती है क्योंकि परमाणुगत रूप नित्य होता है एवं अनेक जलपरमाणुओं में समवायसम्बन्ध से रहता है। पुनश्च यदि लक्षण में 'अनेकानुगतम्' विशेषण न दिया जाय तो इसकी अतिव्याप्ति आकाशगत परिमाणादि में होने लगती है क्योंकि आकाशपरिमाण एक है तथा नित्य भी है। लक्षण में प्रयुक्त अनुगत पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अनुगत का शाब्दिक अर्थ है – रहना। रहना हमेशा किसी न किसी सम्बन्ध से होता है जैसे पुस्तक मेज पर संयोग सम्बन्ध से रहती है, पुस्तक का नीलारूप पुस्तक में समवाय सम्बन्ध से रहता है। सामान्य के उपरोक्त लक्षण में भी अनुगत पद का अर्थ सामान्य रूप से रहना न होकर समवाय सम्बन्ध से रहना लिया जाता है क्योंकि ऐसा न मानने पर अत्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति होने लगती है।

अत्यन्ताभाव नित्य होता है तथा एक होते हुए अनेक में स्वरूपसम्बन्ध से रहता है। इसी कारण से न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार आचार्य विश्वनाथ ने सामान्य का लक्षण किया है – 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम् सामान्यम्'। सामान्य के दो भेद हैं :

1) **परसामान्य** : अधिक देश (आश्रय) में रहने वाला सामान्य 'परसामान्य' कहलाता है – 'परत्वं अधिकदेशवृतित्त्वम्'। सत्ता को सबसे पर सामान्य माना जाता है।

2) **अपरसामान्य** : अल्प देश (आश्रय) में रहने वाला सामान्य 'अपरसामान्य' कहलाता है – 'अपरत्वं अल्पदेशवृतित्त्वम्'। जैसे – द्रव्यत्व।

सामान्य केवल तीन पदार्थों – द्रव्य, गुण एवं कर्म में पाया जाता है। इन तीनों में पाए जाने वाले सामान्य को 'सत्ता' कहते हैं।

विशेष : न्याय–वैशेषिक दर्शन के अनुसार सामान्य को 'त्व' लगाकर प्रदर्शित किया जाता है। सामान्य होने के लिए केवल समानता की प्रतीति होना ही आवश्यक नहीं है अपितु सामान्य होने के सभी धर्मों (नित्यत्व, एकत्व तथा अनेकानुगतत्व) का भी होना अनिवार्य है।

नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषाः।

व्याख्या : तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नंभट्ट वैशेषिकदर्शन में स्वीकृत सप्त पदार्थों में 'विशेष' नामक पदार्थ का निरूपण करते हुए कहते हैं कि नित्यद्रव्यों में रहने वाले व्यावर्तक को विशेष कहते हैं।

न्याय–वैशेषिक मत में पृथिवी, जल, तेज एवं वायु के परमाणु तथा आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन इन 9 को नित्य द्रव्य कहा जाता है। इन्हीं 9 द्रव्यों में वर्तमान रहता हुआ विशेष उनके मध्य परस्पर व्यावर्तन को सम्पादित करता है। यह प्रश्न होने पर कि एक विशेष दूसरे विशेष से पृथक् कैसे होता है; वैशेषिक दर्शन का कहना है एक विशेष को दूसरे से अलग करने के लिए किसी अन्य विभेदक की आवश्यकता नहीं होती है अपितु एक विशेष दूसरे को स्वतः पृथक् कर देता है। इसीलिए विशेष का एक लक्षण 'स्वतोव्यावर्तकत्वं विशेषत्वम्' भी स्वीकार किया जाता है। चूँकि नित्य द्रव्यों की संख्या अनन्त है इसलिए विशेष भी अनन्त होते हैं।

विशेष : विद्वानों का मानना है की विशेष नामक पदार्थ की विशिष्ट मान्यता के कारण ही कणादप्रोक्त दर्शन को वैशेषिक दर्शन कहा जाता है।

नित्यसम्बन्धः समवायः। ययोर्द्वयोर्मध्य एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ। यथाऽवयवावयविनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती, विशेषनित्यद्रव्ये चेति।

व्याख्या : आचार्य अन्नम्भट्ट के अनुसार नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। समवाय अयुतसिद्ध पदार्थों के मध्य का सम्बन्ध है। न्याय–वैशेषिक परम्परा में अयुतसिद्ध पदार्थ वे हैं जिन्हें परस्पर पृथक् नहीं किया जा सकता है। तर्कसंग्रह के अनुसार अयुतसिद्ध का लक्षण है – ययोः द्वयोः मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ' अर्थात् अयुतसिद्ध वे दो वस्तुएं हैं जिनमें से एक विनश्यत् अवस्था को छोड़कर सदैव दूसरे पर आश्रित रहती है। जैसे – पटरूप सदैव अपने आश्रयी पट में ही रहता है, पटरूप पट से तभी विभक्त होता है जब पट का विनाश हो जाता है; अतः पटरूप और पट परस्पर अयुतसिद्ध हैं। न्याय–वैशेषिक दर्शन में निम्नलिखित 5 के मध्य का सम्बन्ध अयुतसिद्ध माना जाता है –

1) अवयव–अवयवीय; जैसे – तन्तु–पट
2) गुण–गुणीय; जैसे – तन्तुरूप–पट
3) क्रिया–क्रियावान्य; जैसे – उत्क्षेपण–गेंद
4) जाति–व्यक्तिय; जैसे – गोत्व–गो
5) विशेष–नित्यद्रव्य; जैसे – आकाशगतविशेष–आकाश

विशेष : न्याय–वैशेषिक दोनों समवाय को नित्य एवं एक मानते हैं किन्तु वैशेषिक समवाय को अतीन्द्रिय मानते हुए उसे अनुमान प्रमाण से सिद्ध करते हैं जबकि न्यायमत में समवाय का प्रत्यक्ष स्वीकार किया जाता है। न्याय–वैशेषिक दर्शन के अतिरिक्त प्रभाकर मीमांसक भी समवाय को एक पृथक् पदार्थ मानते हैं जबकि अन्य समस्त दार्शनिक सम्प्रत्यय समवाय का खण्डन करते हैं।

अनादिः सान्तः प्रागभावः। उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य। सादिरनन्तः प्रध्वंसः। उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य। त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः। यथा भूतले घटो नास्तीति। तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः। यथा घटः पटो न भवतीति।

व्याख्या : तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत सप्तम पदार्थ 'अभाव' के भेदों का निरूपण करते हुए कहते हैं कि 'अभाव नामक पदार्थ चार प्रकार का होता है – प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव।

1) **प्रागभाव** : 'अनादिः सान्तः प्रागभावः' अर्थात् जो अभाव अनादि एवं सान्त होता है, उसे प्रागभाव कहते हैं। अनादि का अर्थ है – उत्पतिरहित तथा सान्त का अर्थ है – समाप्त होने वाला। आशय यह है कि कोई भी वस्तु अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में विद्यमान नहीं होती है अर्थात् उत्पति से पहले कार्य का कारण में अभाव होता है। यह अभाव कब से है ऐसा निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता है, इसलिए इसे अनादि कहा जाता है। जब कर्त्ता कारणव्यापार का प्रयोग करता है तो वस्तु उत्पन्न हो जाती है, इस स्थिति में कार्यवस्तु का अपने कारण में रहने वाला अभाव सान्त अर्थात् समाप्त हो जाता है। इसी अभाव को प्रागभाव कहा जाता है। जैसे – पट का अपनी उत्पत्ति से पहले तन्तुओं में रहने वाला अभाव।

2) **प्रध्वंसाभाव** : 'सादिरनन्तः प्रध्वंसाभावः' अर्थात् वह अभाव जो सादि हो तथा अनन्त हो, प्रध्वंसाभाव कहलाता है। यहाँ 'सादि' का अर्थ है – उत्पत्तिमान् तथा 'अनन्त' का अर्थ है – नाशरहित। अभिप्राय यह है कि जो अभाव उत्पन्न तो होता है किन्तु जिसका विनाश नहीं होता है, वह प्रध्वंसाभाव है। 'ध्वंस' का अर्थ ही है 'विनाश'। जैसे – जब हम घट पर किसी दण्ड से प्रहार करते हैं तो घट विनष्ट हो जाता है, इसे हम ऐसे भी कह सकते हैं कि घट का अपने कपालों में अभाव हो गया है, यही अभाव का उत्पत्तिमान् (सादि) होना है। पुनश्च विनष्ट हुआ वही घट पुनः उत्पन्न नहीं किया जा सकता है, यही इस अभाव का अनन्त होना है। इस प्रकार दण्डप्रहार से विनष्ट घट का अभाव सादि एवं अनन्त होने के कारण प्रध्वंसाभाव है।

3) **अत्यन्ताभाव** : 'त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः' अर्थात् त्रैकालिक संसर्ग से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाले अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। तात्पर्य यह कि जो अभाव न तो कभी उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है,

वही त्रैकालिक बना रहने वाला अभाव है जो अत्यन्ताभाव कहलाता है। यथा – वायु में रूप का अभाव। वायु में रूप नामक गुण का अभाव न तो उत्पन्न किया जा सकता है और न ही इसका अन्त किया जा सकता है अर्थात् यह अभाव नित्य बना रहेगा। यही अत्यन्ताभाव है।

4) **अन्योन्याभाव** : 'तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावः अन्योन्याभावः' अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाले अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं। यथा – 'घटः पटो न' अर्थात् घट, पट नहीं है जिसका अर्थ है घट में पट का अभाव है। इस अनुभव में घट में पट का जो भेदरूप अभाव प्रतीत हो रहा है, वही अन्योन्याभाव है। यहाँ घट में रहने वाले अन्योन्याभाव का प्रतियोगि पट है जिसमें रहने वाली प्रतियोगिता तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न है क्योंकि घट और पट का तादात्म्य नहीं हो सकता है। अतः दो वस्तुओं के तादात्म्य का अभाव ही अन्योन्याभाव कहलाता है।

विशेष : न्याय–वैशेषिक दर्शन में अभाव को एक पृथक् एवं स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। इनके अनुसार अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है जिसके लिए विशेषण–विशेष्यसन्निकर्ष नामक विशिष्ट सन्निकर्ष को स्वीकार किया जाता है।

5.3 द्रव्य निरूपण

तत्र गन्धवती पृथ्वी। सा द्विविधा – नित्याऽनित्या च। नित्या परमाणुरूपा। अनित्या कार्यरूपा। पुनस्त्रिविधा – शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमस्मदादीनाम्। इन्द्रियं गन्धग्राहकं घ्राणं नासाग्रवर्ति। विषयो मृत्पाषाणादिः।

व्याख्या : वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत सप्त पदार्थों में प्रथम पदार्थ है – द्रव्य। द्रव्यत्व जाति से युक्त होना, गुणों का आश्रय होना, क्रिया (कर्म) का आश्रय होना अथवा किसी कार्य का समवायिकारण होनाय यह सभी द्रव्य का सामान्य लक्षण है। द्रव्यों की संख्या 9 है – पृथिवी, अप (जल), तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा एवं मन। इन 9 द्रव्यों में से प्रथम द्रव्य 'पृथिवी' का लक्षण करते हुए आचार्य अन्नम्भट्ट कहते हैं – 'गन्धवती पृथ्वी' अर्थात् पृथ्वी वह है जो गन्धवती हो। यहाँ गन्धवती कहने का आशय है कि जिसमें गन्ध समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता हो। गन्ध एक गुण है तथा गुण के सम्बन्ध में यह नियम है कि वे कभी भी निराश्रित नहीं रहते हैं। प्रत्येक गुण अपने आश्रयी गुणी अर्थात् द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है क्योंकि न्याय–वैशेषिक दर्शन में गुण एवं गुणी (द्रव्य) अयुतसिद्ध पदार्थ हैं तथा अयुतसिद्धों के मध्य का सम्बन्ध सदैव समवाय ही होता है। चूँकि गन्ध भी एक गुण है अतः उसे भी ऐसा एक आश्रय चाहिए जिसमें वह समवाय सम्बन्ध से रह सके। इसी गन्ध गुण का जो समवायेन आश्रयभूत द्रव्य है वही पृथिवी है।

पृथ्वी के भेदों का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं कि गन्धविशिष्टा पृथ्वी दो प्रकार की होती है – नित्य एवं अनित्य। नित्य का अर्थ है जिसका कभी नाश नहीं होता है जबकि अनित्य वह है जो नष्ट हो जाया करता है। परमाणुरूप पृथ्वी नित्य होती है तथा कार्यरूप (द्वयणुक से लेकर स्थूल पृथ्वी पर्यन्त) पृथ्वी अनित्य होती है। आशय यह है कि जब पृथ्वी का ज्ञान हमें परमाणुरूप में होता है अर्थात् हमें पार्थिव परमाणुओं का बोध हो रहा होता है, उस स्थिति में पृथिवी नित्य होती है, क्योंकि परमाणु को

नित्य माना जाता है। पुनः दो परमाणुओं के संयोगपूर्वक द्वयणुक की उत्पत्ति होती है तथा इसी क्रम से त्रसरेणु, चतुरणुक....स्थूल पृथिवी की उत्पति होती है; जब पृथ्वी का ज्ञान हमें द्वयणुक से लेकर स्थूल पृथ्वी के रूप में होता है तो इसे ही अनित्य पृथ्वी कहा जाता है क्योंकि उत्पन्न होने के कारण ये सभी कार्यरूप तथा अनित्य होते हैं।

कार्यरूपा पृथ्वी का एक और प्रकार से विभाजन करते हुए आचार्य कहते हैं कि कार्यरूपा पृथ्वी के 3 भेद हैं – शरीर, इन्द्रिय तथा विषय। पृथ्वी – परमाणुओं से निर्मित शरीर 'पार्थिव शरीर' कहलाता है। जैसे – मनुष्य, पशू, पक्षी आदि का शरीर। 'शरीर' का लक्षण किया जाता है – 'भोगायतनं शरीरम्'– आत्मा के भोग का आश्रयभूत अवयवी शरीर कहलाता है । आत्मा शरीर के द्वारा ही अपने पाप–पुण्य कर्मों के फल का भोग करती है इसीलिए शरीर को आत्मा का भोगाधिष्ठान कहा जाता है। शरीर का एक अन्य लक्षण है – 'चेष्टाश्रयो शरीरम् (अन्त्यावयवित्वे सति चेष्टाश्रयम्) स्वतन्त्र चेष्टा से युक्त अन्तिम अवयवी को शरीर कहते हैं । चेष्टा वह क्रिया है जो इष्ट की प्राप्ति अथवा अनिष्ट के परिहार हेतु की जाती है।

इन्द्रियाँ ज्ञान की साधन होती हैं। दीपिकाकार ने इन्द्रिय का लक्षण किया है– 'शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वं इन्द्रियत्वम्' अर्थात् शब्द के अतिरिक्त किसी अन्य विशेष गुण का आश्रय न होते हुए जो मनःसंयोग से ज्ञान का कारण हो, उसे इन्द्रिय कहते हैं। न्याय–वैशेषिकों के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया में इन्द्रिय और मन का संयोग कारण होता है। आत्म–मन–इन्द्रियसंयुक्त विषय का ही प्रत्यक्ष सम्भव होता है। तर्कसंग्रहकार के अनुसार गन्ध गुण का ग्रहण 'घ्राण' इन्द्रिय से होता है तथा यह घ्राण, नासिका के अग्रभाग में रहता है।

प्राणी अपनी इन्द्रियों के माध्यम से जिन पदार्थों का उपभोग करते हैं, वे ही समस्त पदार्थ 'विषय' कहलाते हैं। विषय के अन्तर्गत समस्त निर्जीव पदार्थ आते हैं। मृदा, पत्थर, वृक्ष आदि पार्थिव विषय हैं।

विशेष : यद्यपि गन्ध पृथ्वी का विशेष गुण है किन्तु इसके अतिरिक्त पृथ्वी में रूप, रस, एवं स्पर्श गुण भी पाया जाता है।

शीतस्पर्शवत्य आपः। ता द्विविधा – नित्या अनित्याश्च। नित्याः परमाणुरूपा। अनित्याः कार्यरूपा। पुनस्त्रिविधा – शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वरुणलोके। इन्द्रियं रसग्राहकं रसनं जिह्वाग्रवर्ति। विषयो सरित्समुद्रादिः।

व्याख्या : तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नभट्ट द्रव्य के 9 भेदों में से द्वितीय भेद 'जल' का निरूपण करते हैं – 'शीतस्पर्शवत्य आपः'। शीतलस्पर्श से युक्त द्रव्य जल कहलाता है। जल के दो भेद है – नित्य जल तथा अनित्य जल। जलीय परमाणु नित्य जल का उदाहरण है जबकि कार्यरूप जल अनित्य होता है। परमाणुरूप नित्य जल का 'स्नेह' गुण भी नित्य होता है अर्थात् उसका उत्पत्ति एवं विनाश नहीं होता है। कार्यरूप जल में पाए जाने वाले स्नेह का उत्पत्ति एवं विनाश हो जाता है इसलिए उसका यह गुण अनित्य होता है। वैशेषिकसूत्रकार कणाद के अनुसार 'रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः' अर्थात् जल में रूप, रस, स्पर्श एवं स्नेह ये 4 गुण रहते हैं।

जल के भी शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार होते हैं। आशय यह कि कार्यरूप जल जलीयशरीर, जलीय इन्द्रिय तथा जलीय विषय के भेद से त्रिविध होता है। जलीय शरीर वरुणलोक के निवासियों का होता है। जलीय शरीर 'अयोनिज' होता है। जलीय इन्द्रिय 'रसना' है तथा जलीय विषय नदी, समुद्र, कूप, वापी, तड़ाग इत्यादि हैं।

विशेष : जल में शुक्लरूप, मधुर रस, शीतस्पर्श तथा स्नेह इन 4 विशेष गुणों के अतिरिक्त संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व एवं संस्कार – ये 10 सामान्य गुण भी रहते हैं।

उष्णस्पर्शवत्तेजः। तच्च द्विविधम् – नित्यमनित्यं च। नित्यं परमाणुरूपम्। अनित्यं कार्यरूपम्। पुनस्त्रिविधम् – शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं आदित्यलोके प्रसिद्धम्। इन्द्रियं रूपग्राहकं चक्षुः कृष्णताराग्रवर्ति। विषयश्चतुर्विधो भौमदिव्यौदर्याकरजभेदात्। भौमं वह्न्यादिकम्। अबिन्धनं दिव्यं विद्युदादि। भुक्तस्य परिणामहेतुरौदर्यम्। आकरजं सुवर्णादि।

व्याख्या : प्रस्तुत अनुच्छेद में तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट ने 'तेज' नामक द्रव्य का निरूपण किया है। तेज का लक्षण है – 'उष्णस्पर्शवत्तेजः'। जिस द्रव्य में उष्ण स्पर्श समवाय सम्बन्ध से रहता है, वह तेज कहलाता है। उष्ण स्पर्श तेज का असाधारण धर्म है। उष्णस्पर्श एक गुण है तथा गुण के सम्बन्ध में यह नियम है कि वे कभी भी निराश्रित नहीं रहते हैं। प्रत्येक गुण अपने आश्रयी गुणी अर्थात् द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है क्योंकि न्याय–वैशेषिक दर्शन में गुण एवं गुणी (द्रव्य) अयुतसिद्ध पदार्थ हैं तथा अयुतसिद्धों के मध्य का सम्बन्ध सदैव समवाय ही होता है। चूँकि उष्णस्पर्श भी एक गुण है अतः उसे भी ऐसा एक आश्रय चाहिए जिसमें वह समवाय सम्बन्ध से रह सके। इसी उष्णस्पर्श गुण का जो समवायेन आश्रयभूत द्रव्य है वही तेज है।

जल के दो भेद है – नित्य तेज तथा अनित्य तेज। तैजस परमाणु नित्य तेज का उदाहरण है जबकि कार्यरूप तेज अनित्य होता है। तैजस के भी शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार होते हैं। आशय यह कि कार्यरूप तेज तैजसशरीर, तैजस इन्द्रिय तथा तैजस विषय के भेद से त्रिविध होता है। तैजस शरीर सूर्यलोक के निवासियों का होता है। कृष्णतारा (काली पुतली) के अग्रभाग में रहने वाली चक्षुरिन्द्रिय ही तैजस इन्द्रिय है। तैजस विषय के 4 भेद हैंद –

1) **भौम तेज** : पार्थिव इन्धन वाला तेज भौम तेज कहलाता है। जैसे – अग्नि तथा जुगनू इत्यादि।
2) **दिव्य तेज** : जलीय इन्धन वाला तेज दिव्य तेज कहलाता है। जैसे – विद्युत्।
3) **औदर्य तेज** : भुक्त विषय को पचाने वाला तेज औदर्य कहलाता है। जैसे – जठराग्नि।
4) **आकरज तेज** : जिसका कोई भी इन्धन नहीं होता है, वह आकरज तेज है। जैसे – सुवर्ण।

विशेष : तेज में रूप, उष्णस्पर्श इन 2 विशेष गुणों के अतिरिक्त संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व एवं संस्कार – ये 9 सामान्य गुण भी रहते हैं।

रूपरहितस्पर्शवान् वायुः। स द्विविधः नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणुरूपः। अनित्यः कार्यरूपः। पुनस्त्रिविधः– शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वायुलोके। इन्द्रियं स्पर्शग्राहकं त्वक् सर्वशरीरवर्ति। विषयो वृक्षादिकम्पनहेतुः। शरीरान्तरूसंचारी वायुः प्राणः। स चैकोऽप्युपाधिभेदात् प्राणापानादिसंज्ञां लभते।

व्याख्या : तर्कसंग्रहकार अन्नम्भट्ट प्रस्तुत अनुच्छेद में 'वायु' द्रव्य का निरूपण करते हुए कहते हैं – 'रूपरहितस्पर्शवान् वायुः' अर्थात् रूपरहित स्पर्शयुक्त द्रव्य वायु कहलाता है। आशय यह है वायु में रूप गुण का अत्यन्ताभाव होता है जबकि उसमें स्पर्शगुण

समवाय सम्बन्ध से पाया जाता है। वायु के दो भेद है – नित्य वायु तथा अनित्य वायु। वायवीय परमाणु नित्य वायु का उदाहरण है जबकि कार्यरूप वायु अनित्य होता है। वायु के भी शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार होते हैं। आशय यह कि कार्यरूप वायु वायवीयशरीर, वायवीय इन्द्रिय तथा वायवीय विषय क्र भेद से त्रिविध होता है। वायवीय शरीर वायुलोक के निवासियों का होता है। समस्त शरीर में रहने वाली त्वक् इन्द्रिय ही वायवीय इन्द्रिय है। वृक्षादिकों को कम्पित करने वाला पवन ही वायवीय विषय है। शरीर के भीतर संचरण करने वाली वायु को 'प्राण' कहते हैं। यद्यपि प्राण–वायु एक ही है किन्तु स्थानभेद रूप उपाधि के कारण वह प्राण, अपान, उदान, समान एवं व्यान के रूप से 5 हो जाता है। इन 5 प्रकार के वायु की हमारे शरीर में अवस्थिति इस प्रकार से होती है –

> हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः।
> उदानः कंठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः।।(अमरकोष 1.67 टीका)

हृदय में रहने वाली वायु 'प्राण', गुदा में रहने वाली वायु 'अपान', नाभि में स्थित वायु 'समान', कंठस्थित वायु 'उदान' तथा सम्पूर्ण शरीर में संचरण करने वाली वायु 'व्यान' कहलाती है।

विशेष : वायु में स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा वेग ये 9 गुण रहते हैं। प्राचीन नैयायिक वायु को अनुमेय मानते हैं जबकि नव्यनैयायिक वायु का स्पार्शन प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं।

शब्दगुणकमाकाशम्। तच्चैकं विभुः नित्यं च।

व्याख्या : आचार्य अन्नम्भट्ट 9 द्रव्यों में से पंचम द्रव्य 'आकाश' का निरूपण करते हुए कहते हैं कि शब्दगुणवाला आकाश है। आकाश एक, विभु एवं नित्य है। आकाश का परिष्कृत लक्षण है – 'शब्दसमवायिकारणम् आकाशः' अर्थात् वह द्रव्य जो शब्द का समवायिकारण हो, उसे आकाश कहते हैं। न्याय–वैशेषिक दर्शन के अनुसार आकाश में शब्द की समवायिकारणता रहता है जिसका आशय यह है कि शब्द नामक गुण समवाय सम्बन्ध से एकमात्र आकाश में ही उत्पन्न होता है। आकाश के लक्षण में 'गुण' पद का निवेश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि गुण पद का निवेश न करने पर आकाश के लक्षण की अतिव्याप्ति दिक् एवं काल में भी होने लगती है क्योंकि शब्द देशिक सम्बन्ध से दिक् में तथा कालिक सम्बन्ध से काल में भी रहता है। इस अतिव्याप्ति दोष से बचने के लिए आकाश के लक्षण में गुण पद का सन्निवेश किया गया है; यद्यपि देशिक एवं कालिक सम्बन्ध से शब्द दिक् एवं काल में रहता है परन्तु वह गुण होने के कारण उनमें नहीं रहता है। गुण के रूप से शब्द एकमात्र आकाश में ही रहता है।

आकाश के गुणभूत शब्द का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय से होता है। तर्कसंग्रहकार के अनुसार आकाश संख्या में एक है। घटाकाश, पटाकाश इत्यादि अनुभवों में प्रतीयमान आकाश का बहुत्व वस्तुतः घट, पट आदि उपाधिओं के कारण होता है। आकाश 'विभु' अर्थात् व्यापक है। विभु की परिभाषा है – 'विभुत्वं सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वम्' अर्थात् जिसका समस्त मूर्त द्रव्यों के साथ सम्बन्ध होता है, वह विभु कहलाता है। 'मूर्त' का लक्षण है – 'मूर्तत्वं परिच्छिन्नपरिमाणवत्वम्' – जिनका परिमाण परिच्छिन्न (सीमित) होता है, वे मूर्त कहलाते हैं। मूर्त 5 हैं – पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं मन। इन्हीं 5 मूर्त द्रव्यों के साथ सम्बन्ध होने के कारण आकाश को विभु स्वीकार किया जाता है। यह नियम है

कि जो द्रव्य विभु होते हैं वे नित्य भी होते हैं। अतः आकाश भी विभु होने के कारण नित्य है।

विशेष : आकाश में शब्द नामक विशेष गुण के अतिरिक्त संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग ये 5 सामान्य गुण भी रहते हैं। आकाश एक है अतः उसमें कोई जाति नहीं रहती है।

अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः। स चौको विभुः नित्यं च।

व्याख्या : आचार्य अन्नम्भट्ट 9 द्रव्यों में से छठे द्रव्य 'काल' का निरूपण करते हुए कहते हैं कि अतीतादि व्यवहार का निमित्तकारण 'काल' कहलाता है। काल एक, विभु एवं नित्य है।

प्रत्येक मनुष्य अपने दैनन्दिन जीवन में काल या समय का विभिन्न रूपों में अनुभव करता है। भूत, भविष्य एवं वर्तमानय बाल्यकाल, किशोरकाल, युवाकाल, वृद्धावस्था इत्यादि प्रतीतियों में सभी को काल की अनुभूति स्वाभाविक रूप से होती है। न्याय–वैशेषिक दर्शन में काल को एक सर्वव्यापक तथा नित्य द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है । तर्कसंग्रहकार के अनुसार 'अतीत, वर्तमान एवं भविष्य के व्यवहार का हेतु काल है'। यहाँ व्यवहार का अर्थ 'वाक्यप्रयोग' है तथा हेतु से तात्पर्य है 'असाधारण निमित्तकारण'। वाक्यप्रयोग रूप व्यवहार का समवायिकारण आकाश होता है, अतः काल उस व्यवहार का निमित्तकारण है। काल को शब्दव्यवहार का ही असाधारण निमित्तकारण माना जाता है, अन्य सभी कार्यों के प्रति वह साधारण कारण बनता है। तर्कभाषा में काल का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है – 'कालोऽपि दिग्विपरीतपरत्वापरत्वानुमेयः' अर्थात् दिक् के परत्व–अपरत्व से भिन्न जो परत्व–अपरत्व है, उसके द्वारा काल का अनुमान किया जाता है। जैसे– यदि कोई वृद्ध पुरुष समीप में स्थित है एवं कोई युवा दूर स्थित है तो दिक् की दृष्टि से वृद्ध पुरुष समीप (अपर) तथा युवा दूर (पर) होते हए भी हमें इसके विपरीत अर्थात् युवा समीप (अपर) तथा वृद्ध दूर (पर) प्रतीत होते हैं। इसी परत्व और अपरत्व की प्रतीति का कारण काल है। इस प्रकार अनुमान द्वारा काल की सिद्धि होती है।

काल एक अनन्त और अखण्ड द्रव्य है। अतः काल के भूत, भविष्य एवं वर्तमान आदि भेद वास्तविक नहीं हैं अपितु किसी बाह्य वस्तु से सम्बन्ध के कारण आरोपित (औपाधिक) हैं। वैशेषिकों के अनुसार यह बाह्य वस्तु 'सूर्य की क्रिया' है। सूर्य की भिन्न–भिन्न क्रियाओं से सम्बन्ध के कारण काल भूत, वर्तमान एवं भविष्य के रूप में भिन्न प्रतीत होता है। आकाश की तरह काल भी विभु एवं नित्य है।

विशेष : काल में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग ये 5 सामान्य गुण रहते हैं। काल एक है अतः उसमें कोई जाति नहीं रहती है।

प्राच्यादिव्यवहारहेतुः दिक्। स चैका नित्या विभ्वी च।

व्याख्या : आचार्य अन्नम्भट्ट 9 द्रव्यों में से सप्तम द्रव्य 'दिक्' का निरूपण करते हुए कहते हैं कि प्राच्यादि व्यवहार का कारण 'दिक्' कहलाता है। दिक् एक, विभु एवं नित्य है।

प्रत्येक मनुष्य अपने दैनन्दिन जीवन में दिशा का विभिन्न रूपों में अनुभव करता है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण इत्यादि प्रतीतियों में सभी को दिशा की अनुभूति स्वाभाविक रूप से होती है। न्याय–वैशेषिक दर्शन में दिक् को एक सर्वव्यापक तथा नित्य द्रव्य के

रूप में स्वीकार किया गया है। तर्कसंग्रहकार के अनुसार 'प्राची (पूर्व), प्रतीची (पश्चिम) आदि के व्यवहार का असाधारण कारण दिक् है'। दिक् को भी सभी कार्यों के प्रति साधारण कारण माना जाता है। तर्कभाषा में दिक् का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है – 'कालविपरीतपरत्वापरत्वानुमेया दिक्' अर्थात् काल के परत्व–अपरत्व से भिन्न जो परत्व–अपरत्व है, उसके द्वारा दिक् का अनुमान किया जाता है। जैसे – यदि कोई वृद्ध पुरुष समीप में स्थित है एवं कोई युवा दूर स्थित है तो काल की दृष्टि से वृद्ध पुरुष दूर (पर) तथा युवा समीप (अपर) होते हए भी हमें इसके विपरीत अर्थात् युवा दूर (पर) तथा वृद्ध समीप (अपर) प्रतीत होते हैं। इसी परत्व और अपरत्व की प्रतीति का कारण दिक् है। इस प्रकार अनुमान द्वारा दिक् की सिद्धि होती है।

दिक् एक अनन्त और अखण्ड द्रव्य है। अतः दिक् के प्राची, प्रतीची आदि भेद वास्तविक नहीं हैं अपितु किसी बाह्य वस्तु से सम्बन्ध के कारण आरोपित (औपाधिक) हैं। वैशेषिकों के अनुसार यह बाह्य वस्तु मूर्त पदार्थों से सम्बन्ध है। पूर्व, पश्चिम आदि दश दिशाओं का भेद दिक् में स्थित मूर्त द्रव्यों में होता है। दिक् में परममहत्परिमाण होता है। दिक् कार्यद्रव्य न होने से तथा अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य पर आश्रित न होने के कारण नित्य मानी गई है। दिक् निरवयव है, अतः यह अखण्ड है।

विशेष : दिक् में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग ये 5 सामान्य गुण रहते हैं। दिक् एक है अतः उसमें कोई जाति नहीं रहती है। न्याय में दिक् का प्रत्यक्ष स्वीकार किया जाता है जबकि वैशेषिक उसे अनुमेय मानते हैं।

ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधः जीवात्मा परमात्मा चेति। तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव। जीवस्तु प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च।

व्याख्या : आचार्य अन्नम्भट्ट 9 द्रव्यों में से अष्टम द्रव्य 'आत्मा' का निरूपण करते हुए कहते हैं कि ज्ञान का अधिकरण आत्मा है। यह आत्मा दो प्रकार का है – परमात्मा एवं जीवात्मा। परमात्मा सर्वज्ञ एवं एक है जबकि जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न–भिन्न, विभु एवं नित्य है।

भारतीय दर्शन में 'आत्मा' का सम्प्रत्यय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। लोकव्यवहार में हमें दो सत्ताओं का स्थूलता से अनुभव होता है – चेतन एवं जड़। चैतन्य या चेतना की अनुभूति को ही अधिकतर भारतीय दर्शन में 'आत्मा' पद से व्यपदेशित किया जाता है। आत्मा की व्युत्पति 'अत् सातत्यगमने' तथा 'आप् व्याप्तौ' इन दोनों धातुओं से स्वीकार की जाती है जिसके अनुसार वह तत्त्व जो निरन्तर गमन करता है(शरीरसंसरण के द्वारा) तथा जो सबमें व्याप्त है, वही आत्मा है। निरुक्तकार आचार्य यास्क के अनुसार 'आत्माऽततेर्वा आप्तेर्वा। अपि वाप्त इव स्यात्। यावद् व्याप्तिभूत इति – (निरुक्त, 3. 15)। तर्कसंग्रहकार के अनुसार आत्मा ज्ञान का अधिकरण (आश्रय) है। यहाँ अधिकरण कहने का आशय समवाय सम्बन्ध से ज्ञान का आश्रय (आधार, कारण) होना है। यद्यपि मन, इन्द्रिय एवं विषय भी ज्ञान का आश्रय होते हैं किन्तु वे सभी समवाय से भिन्न किसी अन्य सम्बन्ध से ज्ञान का आधार बनते हैं जबकि आत्मा समवाय सम्बन्ध से ज्ञान का कारण होती है। आत्मा ज्ञान का समवायिकारण है अर्थात् ज्ञान आत्मा में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है।

आत्मा के दो भेद हैं – परमात्मा अर्थात् ईश्वर तथा जीवात्मा। न्याय–वैशेषिक दर्शन के अनुसार ईश्वर जगत् का आदिकर्त्ता, पालक तथा संहारक है। इसी ईश्वर को उन्होनें परमात्मा के रूप में वर्णित किया है तथा इसे ही सर्वज्ञ पद से अभिहित किया गया है।

इसी क्रम में न्याय–वैशेषिक ने ईश्वर को अनुमानवेद्य स्वीकृत किया है। न्यायकुसुमाञ्जलिकार आचार्य उदयन ने ईश्वर की सत्ता सिद्धि में 8 हेतु दिये हैं –

"कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।।" (न्यायकुसुमांजलि, 5.1)

परमात्मा एक है क्योंकि एक से अधिक ईश्वर मानने में कोई प्रमाण नहीं है अपितु गौरवदोष होता है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न–भिन्न होती है । आत्मा का परिमाण 'विभु' है, यहाँ विभुत्व का अर्थ सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्व है। विभु होने के कारण ही आत्मा नित्य है। आत्मा का मानसप्रत्यक्ष स्वीकार किया जाता है।

विशेष : आत्मा में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग ये 5 सामान्य गुण रहते हैं तथा बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार (भावना) ये 9 विशेष गुण भी रहते हैं।

सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यञ्च।

व्याख्या : आचार्य अन्नम्भट्ट 9 द्रव्यों में से नवम द्रव्य 'मन' का निरूपण करते हुए कहते हैं कि सुख–दुःख आदि अनुभवों की उपलब्धि का साधनभूत इन्द्रिय मन कहलाता है। प्रत्येक आत्मा के साथ नियत होने के कारण मन अनन्त है तथा वह परमाणुरूप एवं नित्य है।

आचार्य ने मन की सत्ता सुख–दुःख इत्यादि आन्तरिक अनुभूतियों को ग्रहण करने वाले इन्द्रिय के रूप से स्वीकार की है। कार्य–कारण के सम्बन्ध में यह सार्वत्रिक नियम है कि प्रत्येक कार्य किसी न किसी 'करण' से उत्पन्न होता है। जो कार्य जिसके बिना उत्पन्न होता है, वह उससे भिन्न अन्य किसी करण से उत्पन्न हुआ करता है। जैसे – छिदा रूप कार्य दण्ड से उत्पन्न नहीं होता है किन्तु दण्डभिन्न कुठार से उत्पन्न होता है। लोकव्यवहार में जब हम किसी पदार्थ का ग्रहण करते हैं तो अनुकूलवेदनीय होने पर हमें 'अहं सुखी' तथा प्रतिकूलवेदनीय होने पर 'अहं दुःखी' इस प्रकार से सुख–दुःख का साक्षात्कार होता है। यह साक्षात्कार चूँकि जन्य(कार्य) है, अतः इसका कोई करण अवश्य होना चाहिए। चक्षुरादि इन्द्रियाँ इस साक्षात्कार का करण नहीं हो सकती हैं अतः परिशेषात् मन को ही उसका करण कहा जा सकता है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण से मन का अस्तित्व सिद्ध होता है।

तर्कसंग्रहदीपिका में मन का लक्षण किया गया है – 'स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्त्वं मनसो लक्षणम्' अर्थात् वह द्रव्य जो स्पर्शरहित होते हुए क्रियाश्रय है, मन कहलाता है। मन अनन्त है क्योंकि जीवात्मा अनन्त है एवं मन प्रत्येक जीवात्मा के साथ सम्बद्ध होता है। मन का परिमाण 'अणु' होता है। यदि मन को विभु स्वीकार कर लिया जाय तो सर्वव्यापक होने के कारण उसका सर्वव्यापक आत्मा के साथ संयोग नहीं हो सकता जिससे ज्ञान की उत्पति सम्भव नहीं होगी क्योंकि आत्म–मनः संयोग को ज्ञान का असमवायिकारण माना जाता है। मन के अणुत्व में दूसरी युक्ति यह है कि यदि मन विभु होगा तो उसका एक साथ कई इन्द्रियों से संयोग होने लगेगा जिससे एक साथ कई ज्ञान उत्पन्न होने लगेंगे। चूँकि युगपत् ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती है, अतः मन को अणु मानना ही तर्कसंगत है।

विशेष : मन अतीन्द्रिय द्रव्य है जिसमें संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व एवं वेग ये 9 गुण रहते हैं।

5.4 सारांश

'दर्शन' शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के अनुसार विचार करने के सभी साधन तथा विचार क्रिया के समस्त विषय दार्शनिक विश्लेषण की परिधि में आ जाते हैं। भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्परा स्वाभिमत सैद्धान्तिक चिन्तन को जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए तीन पद्धतियों का प्रयोग करती है – तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा तथा आचारमीमांसा। तत्त्वचिन्तन की इस प्रक्रिया में तत्त्वमीमांसा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि प्रमाणों की सहायता से (तत्त्वों) का यथार्थज्ञान होने पर ही परमलक्ष्यभूत मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित तत्त्वमीमांसा के अनुसार 'द्रव्य–गुण–कर्म–सामान्य–विशेष–समवाय–अभाव' इन सप्त पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

'पदस्य अर्थः पदार्थः' अर्थात् पद के अर्थ को पदार्थ कहते हैं। यद्यपि विश्व में पदों की संख्या असंख्य है किन्तु 'अर्थ' केवल सात ही हैं। न्याय–वैशेषिक मतानुसार 'अभिधेय होना' (किसी शब्द के द्वारा कथित होना), 'ज्ञेय होना' (ज्ञान का विषय होना) तथा 'प्रमेय होना' (प्रमा का विषय होना) ये सभी सातों पदार्थों का समान धर्म है। इन सात पदार्थों को हम प्रथमतः दो कोटियों में विभाजित कर सकते हैं – भाव पदार्थ तथा अभाव पदार्थ। भाव पदार्थ 6 हैं – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय। अभाव सप्तम पदार्थ है। गुण एवं कर्म का अधिकरण होना 'द्रव्य' का सामान्य लक्षण है। 'गुण' वह है वह द्रव्य के आश्रित रहता हो तथा गुणत्व से युक्त हो। संयोग से भिन्न होते हुए जो संयोग का असमवायिकारण हो उसे 'कर्म' कहा जाता है। अनुगत प्रतीति (समानता की प्रतीति) के नियामक को 'सामान्य' कहते हैं। अन्त्यावयवी पदार्थविभाजक धर्म 'विशेष' कहलाता है। अयुतसिद्ध पदार्थों के मध्य का सम्बन्ध 'समवाय' कहलाता है। नञ् प्रतीति के विषयभूत पदार्थ को 'अभाव' कहते हैं।

द्रव्यत्व जाति से युक्त होना, गुणों का आश्रय होना, क्रिया (कर्म) का आश्रय होना अथवा किसी कार्य का समवायिकारण होनाय यह सभी द्रव्य का सामान्य लक्षण है। द्रव्यों की संख्या 9 है – पृथिवी, अप (जल), तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा एवं मन। 'गन्धवती पृथ्वी' अर्थात् पृथ्वी वह है जो गन्धवती हो। यहाँ गन्धवती कहने का आशय है कि जिसमें गन्ध समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता हो। शीतलस्पर्श से युक्त द्रव्य जल कहलाता है। जिस द्रव्य में उष्ण स्पर्श समवाय सम्बन्ध से रहता है, वह तेज कहलाता है। रूपरहित स्पर्शयुक्त द्रव्य वायु कहलाता है। वह द्रव्य जो शब्द का समवायिकारण हो, उसे आकाश कहते हैं। अतीतादि व्यवहार का निमित्तकारण 'काल' कहलाता है। काल एक, विभु एवं नित्य है। प्राच्यादि व्यवहार का कारण 'दिक्' कहलाता है। दिक् एक, विभु एवं नित्य है।

ज्ञान का अधिकरण आत्मा है। यह आत्मा दो प्रकार का है – परमात्मा एवं जीवात्मा। परमात्मा सर्वज्ञ एवं एक है जबकि जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न–भिन्न, विभु एवं नित्य है। सुख–दुःख आदि अनुभवों की उपलब्धि का साधनभूत इन्द्रिय मन कहलाता है। प्रत्येक आत्मा के साथ नियत होने के कारण मन अनन्त है तथा वह परमाणुरूप एवं नित्य है।

5.5 शब्दावली

पदार्थ, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव, पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, परमात्मा, मन।

5.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- तर्कसंग्रहः (स्वोपज्ञव्याख्यातर्कदीपिकासहितः), (व्याख्याकार) डॉ. दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2012।
- तर्कसंग्रहः (स्वोपज्ञव्याख्यातर्कदीपिकापदकृत्यतर्कमीमांसासहितः), (व्याख्याकार) डॉ. राजेश्वरशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2013।
- भारतीय दर्शन, दत्ता एवं चटर्जी, पुस्तक भण्डार, पटना, 1969।
- Tarksangraha of Annambhatta (with Dipika & Nyayabodhini), (Ed. & Tr.) Athalye & Bodas, Mumbai, 1930.

5.7 अभ्यास प्रश्न

1) तर्कसंग्रह के अनुसार पदार्थ के स्वरूप का विवेचन कीजिए।
2) द्रव्य एवं उसके भेदों का वर्णन कीजिए।
3) कर्म के पञ्चविध प्रकारों का वर्णन कीजिए।
4) चतुर्विंशति गुणों का निरूपण कीजिए।
5) सामान्य एवं उसके भेदों का विवेचन कीजिए।
6) विशेष के स्वरूप का विवेचन कीजिए।
7) अभाव पदार्थ का भेदसहित निरूपण कीजिए।
8) समवाय का विवेचन कीजिए।
9) 'पृथिवी' द्रव्य का विस्तृत विवेचन कीजिए।
10) 'आत्मा' के स्वरूप पर निबन्ध लिखिए।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 6 गुण निरूपण

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप :

- गुण का लक्षण, स्वरूप तथा उसके विभिन्न भेदों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- इंद्रिय ग्राह्य गुणों के विषय में अध्ययन करेंगे।
- गुणों की संख्या और विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई गुण परिभाषाओं को जानेंगे; तथा
- इकाई की गुण संबंधी विशिष्ट शब्दावली से परिचय प्राप्त करेंगे।

6.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियो इस इकाई से पूर्वतन इकाई में आपने अन्नम्भट्टकृत तर्कसंग्रह तथा न्याय वैशेषिक परंपरा के आलोक में में वर्णित पदार्थ एवं द्रव्य निरूपण के अंतर्गत पदार्थ एवं द्रव्य के लक्षण, स्वरूप और विविध भेदों के बारे में अध्ययन किया। आपने पंचविध कर्म तथा सामान्य और उसके भेदों, समवाय एवं विशेष तथा अभावादि की जानकारी प्राप्त की। प्रस्तुत इकाई में आप गुण–विवेचन के अंतर्गत न्याय वैशेषिक परंपरा में वर्णित विभिन्न गुणों एवं उनके धारक तत्त्व–पदार्थों, इंद्रियों आदि के बारे में अध्ययन करेंगे। भारतीय दार्शनिक चिंतन परंपरा सामान्यतः तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा तथा आचारमीमांसा के माध्यम से यथार्थ ज्ञान की प्रतीति की अनुशंसा करती है अतः वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित तत्त्वमीमांसा के अनुसार गुणों के लक्षण, स्वभाव एवं प्रकृ ति के तत्त्व ज्ञान से यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है।

6.2 गुण निरूपण (मूल, अर्थ एवं व्याख्या–विशेष सहित)

गुण निरूपण के अंतर्गत 24 गुणों का उल्लेख किया गया है – जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कारादि सम्मिलित हैं।

शिक्षार्थियो की सुविधा हेतु यहाँ प्रमुख गुणों के अंतर्गत इन पर चर्चा की गई है। तर्कसंग्रहकार ने इन्हें भेदोपभेदों सहित समवाय संबंध की दृष्टि से विवेचित किया है। गुणत्वं जातिमत्त्वं गुणस्य लक्षणम्, अत्र तुरूपत्वादयः सर्वापि जातयः – गुण जाति अर्थात तत्संबंधी गुणयुक्त का होना ही गुण लक्षण है। इसमें रूप प्रथम गुण है।

रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथकत्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहषब्दबुद्धिसुखदुःख इच्छाद्वेशप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराः चतुर्विंशति गुणाः।

6.2.1 गुण निरूपण (चक्षुर्मात्रग्राह्यो से स्मृतिरनुभवष्च पर्यन्त)

रूप : चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्। तच्च शुक्ल–नील–पीत–रक्त–हरित–कपिश–चित्रभेदात् सप्तविधम्। पृथ्वीजलतेजोवृत्ति। तत्र पृथिव्यां सप्तविधम्। अभास्वरशुक्लं जले। भास्वरशुक्लं तेजसि।

अर्थ : केवल नेत्र (चक्षुरिन्द्रिय) के द्वारा ग्रहण करने योग्य प्रथम गुण रूप है। यह रूप सात प्रकार का है – शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित कृष्ण और चित्र अर्थात चितकबरा रंग–बिरंगा। रूप पृथ्वी, जल, और तेज में रहता है। जल में नहीं चमकने वाला शुक्ल वर्ण अभास्वर और तेज में चमकने वाला शुक्ल भास्वर रूप रहता है।

विशेष : 'मात्र' शब्द यहां संख्या में अतिव्याप्ति न हो इसलिए प्रयोग किया गया है क्योंकि संख्या चक्षुग्राह्य भी है और स्पर्शग्राह्य भी।

यहां रूप का लक्षण बताते हुए कहा गया है –**'चक्षुर्मात्रग्राह्यत्वं विशिष्ट गुणत्व'**। यहां यदि 'गुणत्व' इस विशेष्य मात्र का ग्रहण किया जाए तो रसादि में भी रुप लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाएगी क्योंकि रसादि भी गुण है। इस दोष का निवारण करने के लिए 'चक्षुर्मात्रग्राह्यत्व' विशेषण कहा गया है। यदि यह विशेषण मात्र कह दिया जाए और गुण अथवा विशेष्य ना कहा जाए तो रूप में भी रुप लक्षण की अति व्यक्ति होने लगेगी क्योंकि जो गुण जिस इंद्रिय से ग्राह्य होता है उसमें रहने वाली जाति भी उसी इंद्रिय से ग्राह्य होती है।

यहां रुप लक्षण में चक्षुर्मात्रग्राह्यत्व का अर्थ है चक्षु से भिन्न जो रस, घ्राण आदि इंद्रियां है उन से अग्राह्य होते हुए चक्षु से ग्राह्य होना। यह अर्थ मात्र पद के देने से निकलता है। यदि 'मात्र' पद ना दिया जाए तो संख्या आदि सामान्य गुणों में रुप लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाएगी क्योंकि चक्षुर्ग्राह्यगुणत्व संख्यादि में भी है। अतः, इस दोष के निवारण हेतु ही 'मात्र' पद का प्रयोग यहां किया गया है। ऐसा इसलिए क्योंकि संख्यादि सामान्य गुण चक्षु से भिन्न त्वगिन्द्रिय से भी ग्राह्य होने से चक्षुर्मात्र ग्राह्य नहीं है। अतींद्रिय गुरुत्व आदि गुण में लक्षण की अतिव्याप्ति न हो इसके लिए चक्षुर्ग्राह्यत्व पद दिया।

जल मात्र में रहने वाले सांसिद्धिकद्रवत्व में रुप लक्षण की अति व्याप्ति वारण हेतु मात्र पद का उपादान आवश्यक है अन्यथा सांसिद्धिक द्रवत्व के विशेष गुण होने से मात्र पद के बिना उसमें अति व्याप्ति का निवारण न हो पाता।

यहां पर ग्राह्यत्व का अर्थ है – प्रत्यक्ष का विषय होना और अग्राह्यत्व का अर्थ है– प्रत्यक्ष का अविषय होना। यहां ग्रहण का अर्थ साधारण ग्रहण है न कि योगियों का अलौकिक ग्रहण।

परमाणुओं का रूप इसलिए नहीं देखा जा सकता क्योंकि परमाणु में महत्त्व नहीं है। पुनः, चक्षुओं की धवलता इसलिए नहीं देखी जा सकती क्योंकि वह अनुद्भूत है। सामान्य अग्नि में धवलता इसलिए नहीं देखी जा सकती क्योंकि वह पार्थिव तत्व से अभिभूत हैं। रस और स्पर्श इसलिए नहीं देखे जा सकते क्योंकि उनमें रूपत्व जाति नहीं है।

रूप के यहां पर सात भेद किए गए हैं। अंत में जो चित्र रूप कहा गया है उसके संबंध में यह भी स्वीकार किया जाता है कि यह प्रथम वेदों का ही सम्मिश्रण है। पृथ्वी में सभी रूप है किंतु जल और प्रकाश में केवल शुक्ल है। प्रकाश की शुक्लता जल की शुक्लता से भिन्न है। इस प्रकार शुक्ल के भास्वर और अभास्वर दो भेद कर दिए गए हैं। भास्कर शुक्ल तेज का है और अभास्वर शुक्ल जल का है।

रस : रसनाग्राह्यो गुणो रसः। स च मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तभेदात् षड्विधः। पृथिवीजलवृत्तिः, तत्र पृथिव्यां षड्विधः, जले मधुर एवं।

अर्थ : रसनेन्द्रिय से गाह्य गुण रस है और वह छः प्रकार का है – मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त।

रस गुण पृथ्वी और जल में रहता है। पृथ्वी में 6 प्रकार के रस होते हैं जबकि जल में मात्र मधुर ही रहता है। जल में अम्लादि रस की प्रतीति उपाधि भेद से होती है।

गंध : घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः। स च द्विविधः– सुरभिरसुरभिश्च पृथिवीमात्रवृत्तिः।

अर्थ : घ्राणेन्द्रिय से ग्रहण किया जाने वाला गुण गंध है। गंध दो प्रकार की होती है – सुरभि (सुगंध) और और असुरभि (दुर्गंध)। गंध–गुण केवल पृथ्वी में रहता है।

स्पर्श : त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः। स च त्रिविधः, शीतोष्णाऽनुष्णाऽशीतभेदात् । पृथिव्यप्तेजोवायुवृत्तिः। तत्र शीतो जले। उष्णस्तेजसि। अनुष्णाऽशीतः पृथिवीवाय्वोः।

अर्थ : त्वगिन्द्रिय (त्वचा इन्द्रिय) मात्र से ग्रहण किया जाने वाला गुण स्पर्श है। वह शीत–उष्ण और अनुष्णातीत भेद से तीन प्रकार का होता है। स्पर्श गुण, पृथ्वी जल तेज और वायु में रहता है। उनमें शीतस्पर्श जल में रहता है, उष्णस्पर्श तेज में रहता है और अनुष्णातीत (न उष्ण न शीत) स्पर्श पृथ्वी और वायु में रहते हैं।

विशेष : रस, गंध और स्पर्श तीनों का वर्णन एक ही प्रकार से किया जाएगा। इसमें कटु का अर्थ तीखा और तिक्त का अर्थ कड़वा है। पृथ्वी में सभी प्रकार के रस हैं जबकि जल में मात्र मधुर रस ही है। जल में यदा–कदा हम लवण का प्रभाव होने उसे उसे उसे नमकीन भी पाते हैं लेकिन ऐसा पार्थिव तत्व के संयोग से होता है। गंध घ्राणेन्द्रिय से ग्रहण होती है। यह दो प्रकार की है – सुगंध और दुर्गंध। यह केवल पृथ्वी में रहती है। चित्र नामक कोई रस नहीं माना गया है क्योंकि हम कभी इसका अनुभव नहीं करते और जब हमें बहुत से रस एक साथ अनुभव होते या प्रतीत होते हैं तो वस्तुतः एक रस के अनंतर दूसरा रस आता है, तो चित्रात्मक अनुभूति होती है।

अन्नम्भट्ट स्पर्श को उष्ण, शीतल और अनुष्ण मानते हैं तथापि कुछ लेखकों ने चित्रस्पर्श को स्वीकार किया है। किंतु चित्रस्पर्श को स्वीकार करने वाले भी बारह प्रकार के स्पर्शों को मानते हैं। महाभारत के सातवें पर्व में भी 12 प्रकार के स्पर्शों का उल्लेख प्राप्त होता है।

यहां यह बात विशेष है कि चक्षु और स्पर्शेन्द्रिय रूप और स्पर्श के अतिरिक्त रूपवत् और स्पर्शवत् द्रव्यादि के भी ग्राहक होने के कारण विशिष्ट हैं। किंतु रसना और घ्राण

केवल गुणों का ही ग्रहण करती है गुणी का नहीं। इसलिए चित्ररूप और चित्रस्पर्श को मानना आवश्यक है। किंतु रस या गंध के संबंध में ऐसा स्वीकार करना आवश्यक नहीं क्योंकि यदि उनका प्रत्यक्ष न भी हो तो भी वे अपने गुणों से अनुमेय हैं। स्पर्श की भी उनके अनुसार वही स्थिति होगी जो स्पर्श का प्रत्यक्ष नहीं मानते। पाकज और अपाकज का इन चारों से संबंध आगे स्पष्ट किया गया है।

रूपादिचतुष्टयं पृथिव्यां पाकजमनित्यञ्च। अन्यत्रापाकजं नित्यञ्च। नित्यगतं नित्यम्, अनित्यगतमनित्यम्।।

अर्थ : रूप आदि (अर्थात रूप, रस, गंध, स्पर्श) पृथ्वी में पाकज (विलक्षण तेज के संयोग से होने वाले) तथा अनित्य हैं। अन्यत्र (अर्थात् जल,तेज,तथा वायु में) अपाकज हैं और नित्य तथा अनित्य दोनों होते हैं।

विशेष : रूप, रस,गंध और स्पर्श दो प्रकार के हैं और अपाकज जो नित्य भी हैं और अनित्य भी। अपाकज नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के हैं। नित्य परमाणुगत हैं तथा अनित्य कार्यगत हैं। कभी ये उष्णता के द्वारा उत्पन्न होते हैं और कभी सहज या स्वाभाविक होते हैं। पृथ्वी में उष्णता से उत्पन्न होते हैं अतःअनित्य हैं। जबकि शेष तीनों धर्मों में स्वाभाविक हैं और नित्य तथा अनित्य दोनों हैं। उनका नित्य रूप परमाणुओं में है और अन्य रूप कार्य में। अन्नम्भट्ट ने ऐसा कुछ नहीं कहा है कि पृथ्वी के परमाणुओं में स्वाभाविक नित्य गंध है या नहीं है। यदि गंध मानी जाए तो पाकजमनित्यम के बाद यह पाठ भी होना चाहिए।

पाकज और अपाकज का मूल भेद यह है कि पृथ्वी उष्णता पहुंचाए जाने पर अपने गुणों को बदल देती है किंतु जल, प्रकाश और वायु नहीं बदलते। यद्यपि वायु और जल उष्णता के संयोग से गर्म हो जाते हैं किंतु वस्तुतः यह उष्णता जल या वायु की नहीं होती किंतु उनके साथ मिल जाने वाले तेज की होती है।

कुछ टीकाओं में वैशेषिक और नैयायिक के दो भिन्न–भिन्न मत क्रमशः पीलुपाकवाद और पिठरपाकवाद के नाम से व्याख्यायित किए गए हैं। पीलुपाकवादी यानि वैशेषिक परमाणु में पाक मानते हैं और पिठरपाकवादी अवयवी में ही इसे स्वीकार करते हैं। पाक के द्वारा रूपादि की परावृत्ति मानते हैं। पाक का यहां अर्थ है –**'पूर्वरूपरसादिवृत्तिजनको विजातीयतेजः संयोगः'।**

विभिन्न प्रभावों के अनुसार यह अनेक प्रकार का है। एक केवल रूप को बदलता है जैसे की आग में तपाया घट दूसरा रूप, गंध और स्वाद तीनों को बदल देता है जैसे कि पाल में पकाया आम।

ऊपर पाक की परिभाषा में 'विजातीय' शब्द इसलिए रखा है कि धातुओं में उष्णता द्वारा होने वाले परिवर्तन में पाक की अतिव्याप्ति न हो जाए क्योंकि धातु भी तेजस् है और उष्णता भी तेजस् है और ये दोनों सजातीय हैं। जब घड़े को तपाया जाता है, तो वैशेषिकों के अनुसार पुराना काला घट और उसके द्वयणुक इत्यादि भाग भी नष्ट हो जाते हैं। अग्नि उसके पृथक्–पृथक् परमाणुओं में लाल रंग उत्पन्न करती है और तब वे उसी प्रक्रिया से उसी प्रकार जुड़कर एक नए लालघट को उत्पन्न कर देता है। घट का नष्ट होना और फिर से जुड़ना इसलिए आवश्यक है ताकि सब परमाणु पक सकें क्योंकि यदि घट नष्ट नहीं होगा तो अग्नि अंदर से परमाणुओं को नहीं पका सकेगी। इस ध्वस्त होने और पुनः जुड़ जाने की प्रक्रिया को हम इसलिए नहीं देख सकते क्योंकि यह बहुत ही शीघ्रता से होती है।

जो नैयायिक पिठरपाकवाद के समर्थक हैं, वे वैशेषिकों के इस पीलुपाक सिद्धांत को नहीं मानते। उनका कहना है कि यदि प्रथम घट नष्ट हो जाता है तो जो नया घट बनता है हम उसे उसी घट के रूप में नहीं पहचान सकते। किंतु वही घट सारी पाकक्रिया के अंतर्गत उसी रूप में पहचाना जाता है। इसके अतिरिक्त यदि वह घट कभी भी किसी भी क्षण विघटित होता तो उसके ऊपर रखे रहने वाले पात्र गिर जाने चाहिए थे, किंतु ऐसा नहीं होता। घट की संख्या, आकार और घट पर बनी हुई रेखाएं भी ज्यों कि त्यों रहती हैं। इसके उत्तर में वैशेषिकों का कहना है कि यदि एक घट में से सुई द्वारा कुछ परमाणु निकाल भी लिए जाएं तब भी वह घट वही है यह पहचान हो जाती है। किंतु नैयायिक यह मानते हैं कि घट के बिना विघटित और पुनर्निर्मित हुए ही उसका रूप बदल जाता है। यह आक्षेप कि घट के आंतरिक भाग के परमाणु बिना अग्नि के स्पर्श के कैसे रूप बदल सकते हैं, यह कह कर निरुत्तर कर दिया जाता है कि पात्र में रखे जल को भी अग्नि के बिना स्पर्श के ही उष्ण कर देती है। इस प्रकार पीलुपाक अर्थात् परमाणुओं के पाक को मानने वाले और पिठरपाक अर्थात घट के विघटित हुए बिना ही उसका पाक मानने वाले वैशेषिकों और नैयायिकों में विवाद चलता रहता है।

किसी भी सिद्धांत को स्वीकार करें, यह मानना होगा कि पृथ्वी में पाकज गुण अनित्य है। पीलुपाक के अनुसार पृथ्वी के परमाणुओं में गंध भी अनित्य है किंतु पिठरपाक के अनुसार इस विषय में कुछ निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता।

एकत्वादिव्यवहारहेतुः संख्या। नवद्रव्यवृत्तिरेकत्वादिपरार्धपर्यन्ता। एकत्वं नित्यमनित्यं च नित्यगतं नित्यमनित्यगतमनित्यम्। द्वित्वादिकं तु सर्वत्रानित्यमेव।

अर्थ : एकत्व, द्वित्व आदि व्यवहार का हेतुभूत गुण संख्या है। यह पृथ्वी आदि नवों द्रव्यों में रहती है। एकत्व से लेकर परार्धपर्यंत संख्या व्यवहार में आती है। एकत्व संख्या नित्य भी है और अन्य तिथि है। नित्य में रहने वाली एकत्व संख्या नित्य है तथा अनित्य में रहने वाली एकत्व संख्या अनित्य है। द्वित्व आदि संख्या तो सर्वत्र अनित्य ही है, क्योंकि द्वित्वादि संख्या की अपेक्षा बुद्धि से होती है।

विशेष : प्रशस्तपादभाष्य में संख्या तथा परिमाण की परिभाषा की गई है और संख्या के संदर्भ में कहा गया है – 'एकत्वादिव्यवहारहेतुः संख्या।'

यहां भी हेतु का अर्थ असाधारण निमित्त कारण है। 'असाधारण' काल और दिक् में अतिव्याप्ति के वारण के लिए है और निमित्त व्यवहार के उपादान कारण आकाश में अतिव्याप्ति वारण के लिए है। विश्वनाथ पंचानन के भाषा परिच्छेद में 10 सामान्य गुणों में संख्या को प्रथम बताया गया है –

> **संख्यादिपरत्वान्तो द्रवःसांसिद्धिकस्तथा।**
> **गुरुत्ववेगौ सामान्यगुणा एते प्रकीर्तिताः।।**

ये सभी गुण द्रव्यों में समान रूप से रहते हैं न कि किसी विशेष प्रकार के द्रव्य में। अतः, यह एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से पृथक करने वाले गुण नहीं बन सकते। यह वस्तु के किसी एक पक्ष को या उसकी व्यवस्था को या उसके भावों को बदलते हैं। वेदान्त की शब्दावली में यह अध्यस्त या आरोपित हैं, इन्हें अनुभव अवश्य करते हैं किंतु वस्तुजगत् में इनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं होती। हम इनकी कल्पना करते हैं, इन्हें वस्तुतः देखते नहीं हैं। संख्या सामान्य गुण है और अपेक्षा बुद्धिजन्य है।

संख्या एक से लेकर परार्ध तक होती है। एकत्व अणुओं में होता है और शेष संख्या कार्य पदार्थ में होती है। एक लकड़ी का टुकड़ा जब तक तोड़ नहीं दिया जाता, एक ही रहता है लेकिन वह तोड़ने पर अनेक बन जाता है इसलिए उसका एकत्व अनित्य ही है।

वैशेषिक तथा अन्नम्भट्ट के अनुसार द्वित्व केवल अपेक्षाबुद्धि द्वारा ज्ञाप्य ही नहीं जन्य भी है। अपेक्षाबुद्धि को विश्वनाथ पंचाननकृत भाषा परिच्छेद में परिभाषित करते हुए बताया जाता है –**'अनेकैकत्वबुद्धिर्या साऽपेक्षयाबुद्धिरुच्यते।'**

दो पदार्थों के सामने आने पर हम उन्हें पृथक–पृथक ही जानते हैं और यह पृथक–पृथक दो इकाइयों का ज्ञान हमें एक इकाई का ज्ञान करवाता है। हमें द्वित्व का ज्ञान होता है। इस प्रक्रिया के संदर्भ में कहा जाता है कि पहले हमारी इंद्रियों का पदार्थ के साथ सन्निकर्ष होता है, तदनंतर एक का ज्ञान होता है फिर अपेक्षा बुद्धि तदनंतर द्वित्व की उत्पत्ति, तदनंतर द्वित्व का सामान्य ज्ञान, तदनंतर द्वित्व गण का ज्ञान, तदनंतर द्वित्व का संस्कार। अपेक्षाबुद्धि द्वित्व का ज्ञापक हेतु नहीं है। इस संदर्भ में सर्वदर्शन संग्रह के प्रणेता मध्वाचार्य का कहना है कि अपेक्षाबुद्धि चूंकि प्रत्येक पदार्थ में पृथक्–पृथक् रहती है जबकि द्वित्व पृथकत्व की भांति कुछ पदार्थों में एक साथ रहता है। अतः यह अपेक्षाबुद्धि द्वित्व का जनक हेतु ही हो सकती है जो अपेक्षा बुद्धि को जनक मानते हैं उनके अनुसार द्वित्व की एक स्वतंत्र सत्ता है और यह उन इकाइयों से जिन को मिलाकर यह बनता है पृथक् है। किंतु जो अपेक्षाबुद्धि को ज्ञापक मानते हैं उनके अनुसार यह इकाईयों में ही रहता है। अपेक्षाबुद्धि केवल इसे अभिव्यक्त करती है। द्वित्व और उसका जनक हेतु अपेक्षाबुद्धि पदार्थों को दो के रूप में जान लेने के बाद समाप्त हो जाते हैं और दो द्रव्यों के जान लिए जाने पर अपेक्षाबुद्धि भी समाप्त हो जाती है। इस प्रकार अपेक्षाबुद्धि और द्वित्वगुण बुद्धि तीन–तीन क्षण के लिए रहती है। इनका क्रम इस प्रकार है – एकत्वज्ञान, अपेक्षाबुद्धि, द्वित्वोत्पत्ति तथा एकत्वज्ञाननाश।

वैशेषिकों का मत है कि समस्त ज्ञान सर्वव्यापक आत्मा के गुण होने के नाते अपने–अपने कार्य को उत्पन्न करने के अनंतर नष्ट हो जाते हैं। द्वित्व आदि को, जिसको सर्वत्र अन्नम्भट्ट ने अनित्य बताया है यही भाव है।

मानवव्यवहारासाधारणं कारणं परिमाणम्। सर्वद्रव्यवृति। तच्चतुर्विधम् – अणु, महद्, दीर्घ, ह्रस्वं चेति।

अर्थ : मानव व्यवहार का असाधारण कारण जो गुण है वह परिमाण है। वह नवों द्रव्यों में रहता है। परिमाण चार प्रकार का होता है– अणु, महद्, दीर्घ और ह्रस्व।

विशेष : उपर्युक्त चार प्रकार के जो परमाणु बताए गए हैं उनमें भी दो प्रकार हैं; मध्यम और परम। सर्वाधिक सूक्ष्म परमाणु की सूक्ष्मता पारिमाण्डल्य कहलाती है। वह परम सूक्ष्मता का दृष्टांत है। द्वयणुक, मध्यमाणुत्व और आकाश परम महत्त्व या विभुत्व का उदाहरण है।

कुछ विद्वानों ने ह्रस्वत्व और दीर्घत्व को अणुत्व और महत्व के अंतर्गत ही माना है। वस्तुतः, यह सभी पद सापेक्षिक हैं और यह व्याख्यायित करते हैं कि कितने अवयवी अंशों को लेकर एक पदार्थ बना है। परिमाण भी नित्य और अनित्य दोनों प्रकार का है। जहां पारिमाण्डल्य और विभुत्व नित्य हैं शेष सब अनित्य।

पृथक्त्व : पृथग्वयवहारासाधारणकारणं पृथक्त्वम। सर्वद्रव्यवृत्तिः।।

अर्थ : पृथक व्यवहार का असाधारण कारण जो गुण होता है वह पृथक्त्व है। पृथक्त्व गुण सभी द्रव्यों में रहता है।

विशेष : प्रशस्तपाद में पृथकत्व की परिभाषा है –**'अपोद्धारव्यवहारकारणम्'**

अपोद्धार का अर्थ है – 'अपकृत्यावधिमपेक्ष्य य उद्धारो निर्धारणं सः' अर्थात् एक पदार्थ को शेष सब पदार्थों से पृथक रूप में जानकर पहचानना। पृथकत्व अन्योन्याभाव से पृथक् है। अन्योन्याभाव केवल यह बतलाता है कि घट पट नहीं है। किंतु पृथकत्व 'पटाद्घटः पृथक्' इस रूप में घट की एक पट से पृथक् विशेष सत्ता बतलाता है। इस प्रकार पृथकत्व दो पदार्थों की वस्तुनिष्ठ पृथकता को बतलाता है जबकि अन्योन्याभाव उनके एक ही स्वभाव ना होने को बतलाता है। इसी प्रकार पृथकत्व वैधर्म्य या वैशिष्ट्य से भिन्न है। संयोग का वर्णन आगे है।

'संयुक्तव्यवहारासाधरणांहेतुः संयोगः। सर्वद्रव्यवृत्तिः।'

अर्थ : संयुक्त व्यवहार का हेतुभूत गुण संयोग है वह सभी द्रव्यों में रहने वाला है।

विशेष : विश्वनाथ कृत भाषा परिच्छेद में संयोग को परिभाषित करते हुए कहा जाता है –**'अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोगः ईरितः।'**

अर्थात वे दो पदार्थ जो कभी अलग–अलग थे, उनका साथ साथ मिल जाना संयोगज है। इस प्रकार दो सर्वव्यापक पदार्थों का कभी भी संयोग नहीं हो सकता क्योंकि वह कभी भी परस्पर होने पर भी पृथक् नहीं हो सकते। संयोग कई स्थानों पर दो प्रकार का माना गया है 1. कर्मज और 2. संयोगज। हाथ का पुस्तक से संयोग कर्मज है क्योंकि यह हाथ के गतिकर्म से होता है और हाथ का पुस्तक से संयोग होने पर शरीर का पुस्तक के साथ जो संयोग होता है वह संयोगज संयोग है।

कर्मज संयोग भी दो प्रकार का होता है – अन्यतर कर्मज और उभय कर्मज।

पक्षी का पर्वत से सहयोग अन्यतर कर्मज है क्योंकि इसमें केवल पक्षी ही गति करता है, पर्वत नहीं। किंतु दो पक्षियों का या दो मेघों का सहयोग उभय कर्मज है क्योंकि उसमें दोनों संयुक्त होने वाली इकाइयां गति करती हैं। संयोगज संयोग भी दो प्रकार का है –

एक तो ऐसा संयोगज संयोग जो अभी उत्पन्न हुए पदार्थ से होता है। जैसे कार्य का अपने उपादान में रहने वाले पदार्थ से संयोग और दूसरा पहले से ही रहने वाले पदार्थ का संयोग जैसे कि हाथ का पेड़ को छूने पर पेड़ का संयोग। सभी संयोग अव्याप्यवृत्ति होते हैं अर्थात पदार्थ के एक अंश मात्र को व्यक्त करते हैं और अंश के नष्ट होने पर नष्ट हो जाते हैं।

केशवमिश्रकृत तर्कसंग्रह संख्या परिमाण कृतित्व और संयोग की परिभाषा देते समय कुछ एक प्रतियों में व्यवहार के बाद साधारण शब्द दिया गया है और कुछ में नहीं दिया गया है। वाक्यवृत्ति में साधारण कारण के संदर्भ में कहा गया है –

'कार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणम्' अर्थात साधारण कारण सभी कार्यों का कारण है, किसी विशेष कार्य का नहीं। उदाहरणतः, दंड घट का ही कारण है किसी और कार्य का कारण नहीं जबकि काल और दिक् घट का भी उसी प्रकार निमित्त

कारण है जिस प्रकार किसी अन्य कार्य के ऐसे साधारण कारण। कारण 8 हैं – ईश्वर, ईश्वर ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, प्रागभाव, काल, दिक्, तथा अदृष्ट जिसमें पाप–पुण्य दोनों आ जाते हैं। कुछ लोग प्रतिबंधकाभाव को नौवां साधारण कारण मानते हैं। जो साधारण कारण हैं वे सभी कार्यों में रहते हैं। अतः जहां कहीं हम कारण की चर्चा करें वहां इन्हें कारण रूप में नहीं लेने चाहिए।

विभाग : संयोगनाशको गुणो विभागः। सर्वद्रव्यवृत्तिः।

अर्थ : संयोग का नाशक गुण विभाग है। वह सभी द्रव्यों में रहता है।

विशेष : 'संयोगनाशकत्व विशिष्ट गुणत्व होने पर विभाग का लक्षण है। लक्षण में विशेष मात्र कहने पर क्रिया भी संयोग की नाशिका होती है। अतः उसमें विभाग लक्षण की अति व्याप्ति हो जाएगी – इसके निवारण के लिए गुणत्व विशेष्य का उल्लेख किया गया है। क्रिया में गुणधर्म नहीं होने से अति व्याप्ति नहीं हुई है।

विभाग केवल संयोग का अभाव भी नहीं है अन्यथा इसे पृथक नहीं गिनवाया जाता। इनमें प्रत्येक एक वास्तविक सत्ता है जो संयोग को समाप्त कर देती है। इसके अतिरिक्त विभाग विभाजन की क्रिया नहीं है वस्तुतः यह गुण है जो कि उस क्रिया से तुरंत फलित होता है। अन्नम्भट्ट कहते हैं –'**संयोगनाशको गुणो विभागः**'। वे विश्वनाथ की भांति 'विभक्तव्यवहारकारणम्' परिभाषा नहीं देते हैं क्योंकि विश्वनाथ की परिभाषा से तो विभाजन की क्रिया भी विभाग ही मानी जाएगी। विभाजन क्रिया, तदनंतर विभाग, तदनंतर पूर्वदेशसंयोग। नदी के किनारे पर लगे हुए दोनों ओर के वृक्ष सदा से ही पृथक हैं किंतु उनका वास्तव में विभाजन नहीं हुआ। विभाग के बाद भी वही भेद हैं जो संयोग के बाद। किंतु नैयायिक विभागज विभाग को नहीं मानते लेकिन वैशेषिक ने इन्हें माना है।

विभागज विभाग का उदाहरण है। हाथ के वृक्ष से विभक्त हो जाने पर शरीर का वृक्ष से विभाग होता है। यहां शरीर का विभाग हस्त क्रिया से संपन्न नहीं होता क्योंकि शरीर का विभाग शरीरस्थ और हस्त क्रिया हस्तस्थ है और शरीर में ऐसी कोई क्रिया नहीं होती जो उसे विभक्त कर दे। एक भाग की क्रिया समस्त अवयवी की क्रिया नहीं हो सकती। अब तो यहां विभाग विभाग से ही उत्पन्न होता है विभाग विभागीय दो प्रकार का माना जाता है 1. कारणमात्रविभागज, 2. कारणाकारण विभागज।

परत्व–अपरत्व : परापरव्यवहारासाधारणकारणे परत्वापरत्वे। पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिनी। ये द्विविधे – दिक्कृते कालकृते च। दूरस्थे दिक्कृतं परत्वम्। समीपस्थे दिक्कृतमपरत्वम्। ज्येष्ठे कालकृतं परत्वम्। कनिष्ठे कालकृतमपरत्वम्।

अर्थ : पर (दूर या ज्येष्ठ) व्यवहार का असाधारण कारण परत्व है और अपर (समीप या कनिष्ठ) व्यवहार का असाधारण कारण। वे परत्व और अपरत्व गुण पृथ्वी आदि (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) चार एवं मन में रहते हैं। परत्व और अपरत्व दो–दो प्रकार के होते हैं – दिक्कृत और कालकृत। दूरस्थ वस्तु में दिककृत परत्व होता है। समीपस्थ वस्तु में दिक्कृत् अपरत्व होता है। कनिष्ठ में कालकृत अपरत्व होता है।

विशेष : परत्वापरत्व को दूरी और निकटता भी कह सकते हैं। यह प्रथम चार मूर्त, अनित्य, और मध्यम परिमाण वाले पदार्थों में रहते हैं। मन क्योंकि मूर्त है इसलिए उस

में दिक्कृत, परत्व अपरत्व नहीं होता है। वस्तुतः परत्व, अपरत्व दो मूर्त पदार्थों के दिक्कृत और कालकृत संबंध हैं जो उनके गुणों के रूप में कह दिए जाते हैं।

आद्यपतनासमवायिकारणं गुरुत्वम्। पृथिवीजलवृत्ति।

आद्यस्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वम्। पृथिव्यप्तेजोवृत्ति। तद्विविधम्– सांसिद्धिकं नैमित्तिकञ्च। सांसिद्धिकं जले। नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः। पृथिव्यां घृतादावग्निसंयोगजं द्रवत्वम्। तेजसि सुवर्णादौ।

अर्थ : आद्यपतन (प्रथम गिरने से) असमवायि कारण द्रवत्व है। यह पृथ्वी, जल और तेज में रहता है। यह दो प्रकार का है – सांसिद्धिक (स्वाभाविक) और नैमित्तिक (अग्नि आदि के तेज के संयोग से होने वाला) सांसिद्धिक द्रवत्व जल में और नैमित्तिक पृथ्वी तथा तेजस् में होता है। पार्थिव घृतादि में अग्नि के सहयोग से नैमित्तिक द्रवत्व और तैजस सुवर्ण आदि में भी अग्नि के संयोग से द्रवत्व होता है।

विशेष : यहां गुरुत्व और द्रव्य की परिभाषाएं एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। एक प्रथम पतन का असमवायिकारण तो दूसरा प्रथम स्यंदन का असमवायिकारण है।

वस्तुतः यहां दोनों परिभाषा में पतन और स्यंदन के समस्त द्वितीय और परवर्ती क्रियाओं में असमवायि कारण के रूप में रहने वाले वेग में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए 'आद्य' शब्द दिया है। देखा जाए तो पतन और स्यंदन दोनों एक ही हैं। पतन ठोस पदार्थों का है, जबकि स्यंदन द्रव्य पदार्थों का होता है। कुछ द्रव्यों में द्रवत्व स्वाभाविक है जैसे पानी में और कुछ में कृत्रिम जैसे घृत आदि में। यह सांसिद्धिक और नैमित्तिक द्रवत्व यद्यपि पदार्थ के गुण माने जाते हैं किंतु इनका इतना अभिप्राय है कि कुछ द्रव्य सामान्य तापमान पर द्रवित रहते हैं और कुछ नहीं।

स्नेह : चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः। जलमात्रवृत्तिः।

अर्थ : चूर्णादि को मिला देने वाला गुण स्नेह है। यह केवल जल में रहता है।

विशेष : चूर्ण आदि के पिंडी भाव का हेतु होते हुए गुणत्व स्नेह का लक्षण है। पिण्डीभाव का अर्थ है – चूर्ण आदि को एक पिंड में परस्पर बांधने और उसके आकर्षण का हेतुभूत विलक्षण संयोग करना। ऐसे विलक्षण संयोग के प्रति स्नेह ही असाधारण कारण है ना कि जलादिगत द्रवत्व कारण है। चूंकि द्रवत्व के कारण होने पर पिघले हुए स्वर्ण आदि के संयोग से भी चूर्ण में पिंडीभाव होना चाहिए किंतु वैसा नहीं होता, अतः पिंडीभाव के प्रति स्नेह ही असाधारण कारण है। इस पिंडी भाव के लिए स्नेह का मानना आवश्यक है केवल द्रवत्व के लिए पर्याप्त नहीं है क्योंकि पिघला हुआ सोना जिस द्रव रूप में होता है चूर्ण का पिंडीभाव वैसा नहीं होता।

इस लक्षण में यदि विशेषण मात्र का ही उपादान हो तो कालादि में भी स्नेह लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाएगी। अतः उसके वारण के लिए गुणत्व इस विशेष्य पद का ग्रहण किया गया है।

श्रोत्रग्राह्यो गुणःशब्दः। आकाशमात्रवृत्तिः। स द्विविधः – ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्चेति। ध्वन्यात्मको भेर्यादौ। वर्णात्मकः संस्कृतभाषादिरूपः।

अर्थ : श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य गुण शब्द है। यह केवल आकाश में रहता है। यह दो प्रकार का है – ध्वन्यात्मक और वर्णनात्मक। उनमें ध्वन्यात्मक शब्दभेदी नगाड़े आदि में होता है और वर्णनात्मक शब्द संस्कृत भाषा आदि स्वरूप है।

विशेष : ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक भेदों के अतिरिक्त कुछ व्याख्याओं में शब्द के संयोगज, विभागज और शब्दज यह तीन भेद और किए जाते हैं। ढोल के पीटे जाने से जो शब्द होता है वह ढोल और हाथ के सहयोग से उत्पन्न होने के कारण संयोग आवाज है। बांस की छड़ी इत्यादि को बीच में से तूने पर जो शब्द होता है वह विभाग है और जो शब्द प्रथम उत्पन्न हुए शब्द से उत्पन्न होता है वह शब्दज है।

क्योंकि हम किसी भी शब्द को दूर से सुन लेते हैं, अतः शब्दज शब्द मानना पड़ता है। चक्षु और श्रोत्र अपने–अपने पदार्थों को दूरी से भी जान लेते हैं। इनमें चक्षु के विषय में यह माना जाता है कि यह पदार्थ तक जाता है किंतु श्रोत्र सर्वव्यापक आकाश से संबद्ध है और वह पदार्थ तक नहीं जा सकता क्योंकि श्रोत्र और कुछ नहीं है हमारे कान की सीमा में बंधा हुआ आकाश ही है – कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश है। अतः उसके अपने स्थान को छोड़कर जाने का प्रश्न नहीं होता। अब यदि श्रोत्र इंद्रिय बाहर जाकर पदार्थ से संबंध स्थापित नहीं कर सकती तो पदार्थ को सन्निकर्ष के लिए इंद्रिय के पास आना चाहिए। किंतु वह शब्द आकाश का गुण होने के कारण आकाश में एक स्थल विशेष पर उत्पन्न होता है और नैयायिकों के अनुसार वह भी अनित्य भी है। अतः यह माना जाता है कि प्रथम उत्पन्न शब्द द्वितीय उत्पन्न शब्द को जन्म देता है और द्वितीय, तृतीय को इस प्रकार वे कान तक पहुंचाते हैं। बुद्धि गुण सभी व्यवहारों का कारण है।

सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धिर्ज्ञानम्। सा द्विविधा–स्मृतिरनुभवश्च।

अर्थ : सब व्यवहार का हेतुभूत गुण बुद्धि है। बुद्धि को ही ज्ञान भी कहते हैं। बुद्धि दो प्रकार की होती है – स्मृति और अनुभव।

विशेष : बुद्धि शब्द के तीन अर्थ संभव हैं – ज्ञान, ज्ञान का साधन और जानने की क्रिया। न्याय–वैशेषिक दर्शन में बुद्धि शब्द का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में हुआ है। बुद्धि को यहां आत्मा का गुण कहा गया है। ज्ञान गुण है जबकि ज्ञान की प्रक्रिया क्रिया है और ज्ञान का साधन द्रव्य है। यह ज्ञान का साधन नैयायिकों ने मनसः शब्द से कहा है। नैयायिक बुद्धि को ज्ञान मानते हैं और ज्ञान का साधन मन को मानते हैं जो अणु परिमाण है और प्रत्यक्षगम्य नहीं है। अतः यहां बुद्धि को ज्ञान ही माना है, ज्ञान का साधन नहीं। सुख,दुःख, धर्म, अधर्म इसी की छवियाँ हैं।

6.2.2 गुण निरूपण (सर्वेशामनुकूल से कटादिपृथिवीवृत्तिः पर्यन्त)

सर्वेषामनुकूलतया वेदनीयं सुखम्। सर्वेषां प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम्। इच्छा कामः। क्रोधो द्वेषः। कृतिःप्रयत्नः। विहितकर्मजन्यो धर्मः। निषिद्धकर्मजन्यस्त्वधर्मः।

अर्थ : जो सबको अनुकूल प्रतीत हो वह सुख है और सभी के लिए प्रतिकूल होने वाला दुःख है। काम इच्छा है। क्रोध द्वेष है। कृति प्रयत्न है। विहित कर्मों से उत्पन्न (अदृष्ट) धर्म है। निषिद्ध कर्मों से उत्पन्न (अदृष्ट) अधर्म है।

विशेष : सुख उसे कहा जाता है जो सबको अनुकूल प्रतीत हो। दुःख वह है जो सबको प्रतिकूल प्रतीत हो। सुख और दुःख का परस्पर में अभाव नहीं होता और ये

साथ–साथ भी रह सकते हैं। सुख स्वयं के लिए अभीष्ट होता है किसी अन्य पदार्थ की इच्छा के लिए नहीं। अभिप्राय यह है कि सुख स्वयं लक्ष्य है किसी लक्ष्य का साधन नहीं है। इसी प्रकार दुःख भी स्वयं ही विद्वेष का कारण है इसलिए नहीं कि वह अन्य पदार्थ से विद्वेष कराता है । इच्छा और विद्वेश स्वतः स्पष्ट है। प्रयत्न वास्तविक क्रिया नहीं है यह वस्तुतः किसी कार्य को करने की इच्छा शक्ति और उसका प्रयत्न है। धर्म और अधर्म अदृश्य के ही प्रकार हैं जो सामान्यतः पुण्य और पाप कहलाते हैं। पुण्य वह है जो श्रुति संबंधी कार्यों को करने से होता है और पाप श्रुति में निषिद्ध कर्म करने से होता है।

बुद्धयादयोऽष्टावात्ममात्रविशेषगुणाः। बुद्धीच्छाप्रयत्ना द्विविधाः नित्या अनित्याश्च। नित्याः ईश्वरस्य। अनित्या जीवस्य। संस्कारः त्रिविधः। वेगो भावना। स्थितिस्थापकश्चेति। स्मृतिर्हेतुर्भावना। आत्ममात्रवृतिः। अन्यथाकृतस्य पुनः तदवस्थापकः, स्थितिःस्थापकः कटादिपृथिवीवृत्तिः।

अर्थ : बुद्धि आदि 8 (बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म) आत्मा मात्र के विशेष गुण हैं। इनमें बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न यह 3 गुण नित्य भी हैं और अनित्य भी हैं। ईश्वर के ये तीनों गुण नित्य हैं और जीव के अनित्य हैं। संस्कार के तीन प्रकार होते हैं – वेग, भावना और स्थिति स्थापक। वेग पृथ्वी जल तेज वायु और मन में रहता है। अनुभव से उत्पन्न और स्मरण के हेतु को भावना कहते हैं, यह केवल आत्मा में रहती है। अन्यथा की हुई क्रिया को पुनः उसकी अपनी अवस्था में ला देने वाला संस्कार स्थितिस्थापक गुण कटादि पृथ्वी में रहता है।

विशेष : संस्कार का लक्षण देना कठिन है। वस्तुतः, संस्कार के जो तीन भेद बताए गए हैं ये परस्पर इतने भिन्न स्वभाव के हैं कि उनमें किसी समान गुण के छांट पाना कठिन है। गुण दो प्रकार के हैं सामान्य और विशेष। किंतु संस्कार दोनों गुणों में समान है, क्योंकि वेग और स्थिति स्थापक सामान्य हैं, जबकि भावना विशेष गुण है।

संस्कार तीन प्रकार के हैं – विवेक, भावना और स्थितिस्थापक। इनमें वेग मूर्त पदार्थों में भी रहता है क्योंकि वह तब तक नहीं रह सकता जब तक कि गति ना हो और गति सीमित पदार्थों की ही हो सकती है। भावना वह है जो अनुभव से उत्पन्न होती है और स्मृति को जन्म देती है। स्थिति स्थापक वह शक्ति है जो पदार्थ को अपने पूर्व रूप में ले आती है यह चटाई जैसे पदार्थों में पाई जाती है, जिसे अलग–अलग आकार–प्रकार देने के बाद भी वह अपने मूल स्वरूप में प्रत्यावर्तित हो जाती है।

इस प्रकार तर्कसंग्रह के गुण निरूपण में वर्णित गुणों पर मूलपाठ, अर्थ एवं विशेष सहित चर्चा संपन्न होती है।

6.3 सारांश

इस इकाई में आपने तर्कसंग्रह में वर्णित 24 गुणों में से प्रधान गुणों यथा रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, द्रवत्व एवं बुद्धि तथा धर्म, अधर्म पर विस्तृत अध्ययन किया। जबकि अन्य गौण गुणों पर संक्षिप्त चर्चा के संकेत प्राप्त किए। 'गुणत्वं जातित्वं गुणस्य लक्षणम्' के अनुरूप व्याख्या और गुणों तथा उनके आश्रय पदार्थों एवं इंद्रियों के संबंध के विषय में भी आपको स्पष्ट जानकारी इस इकाई में मिली होगी। यह समवायिकरण की संकल्पना है। गंधवती पृथ्वी अथवा चक्षुर्ग्राह्य

रूपम् कहने का तात्पर्य गंध और पृथ्वी तथा चक्षु और रूप के समवाय संबंध से हैं। इसी प्रकार आपने अन्य गुणों एवं उनके आश्रयों के विषय में भी जाना।

6.4 शब्दावली

भास्वर, अभास्वर, अनुष्ण, उष्ण, पीलुपाकवाद, पिठरपाकवदी, एकत्व, हित्व, नित्य, अनित्य, संयोग, परत्व, अपरत्व।

6.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- तर्कसंग्रहः (स्वोपज्ञव्याख्यातर्कदीपिकासहितः), (व्याख्याकार) डॉ. दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2012।
- तर्कसंग्रहः (स्वोपज्ञव्याख्यातर्कदीपिकापदकृत्यतर्कमीमांसासहितः), (व्याख्याकार) डॉ. राजेश्वरशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2013।
- भारतीय दर्शन, दत्ता एवं चटर्जी, पुस्तक भण्डार, पटना, 1969।
- Tarksangraha of Annambhatta (with Dipika & Nyayabodhini), (Ed. & Tr.) Athalye & Bodas, Mumbai, 1930.

6.6 अभ्यास प्रश्न

1. तर्कसंग्रह के अनुसार गुणों का विवेचन कीजिए।
2. 'गंधवती पृथ्वी' इसका विवेचन कीजिए।
3. बुद्धि गुण की विवेचना कीजिए।
4. संयोग गुण का भेदों सहित वर्णन कीजिए।
5. संख्या गुण सामान्य गुणों में क्यों प्रधान है? लिखिए।

इकाई 7 प्रमाण निरूपण : प्रत्यक्ष प्रमाण

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- बुद्धि एवं उसके प्रकारों का जानकारी प्राप्त करेंगे।
- प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण, स्वरूप तथा उसके भेदों के बारे में जान सकेंगे।
- प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रक्रिया में उपयोगी षड्विध सन्निकर्ष का बोध प्राप्त करेंगे।
- प्रत्यक्ष प्रमाण की पारिभाषिक शब्दावली तथा विशिष्ट प्रयोग विधि–विवेचन करने में समर्थ होंगे।

7.1 प्रस्तावना

भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्परा स्वाभिमत सैद्धान्तिक चिन्तन को जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए तीन पद्धतियों का प्रयोग करती है – तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा तथा आचारमीमांसा। तत्त्वचिन्तन की इस प्रक्रिया में प्रमाणमीमांसा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि प्रमाणों की सहायता से ही प्रमेयों (तत्त्वों) का ज्ञान सम्भव होता है। दर्शनसरणियों में यह प्रसिद्ध उक्ति भी है – 'मानाधीना मेयसिद्धिः' अर्थात् मेय (प्रमेय) की सिद्धि मान (प्रमाण) के अधीन होती है। प्रमा या यथार्थज्ञान की उपलब्धि किसी साधन की सहायता से ही होती है इसलिए सामान्य रूप से प्रमा की उपलब्धि के साधन ही प्रमाण कहलाते हैं। 'प्रमाण' शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी तथ्य को उद्घाटित करती है – 'प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्' अर्थात् जिससे प्रमा की प्राप्ति हो उसे प्रमाण कहते हैं। न्यायभाष्यकार आचार्य वात्स्यायन का कथन है – 'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि' अर्थात् उपलब्धि ज्ञान के साधन ही प्रमाण हैं।

भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में प्रमाणों की संख्या तथा उसके लक्षण एवं स्वरूप में अत्यन्त मतभेद है। चार्वाक दर्शन जहाँ केवल प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानता है वहीं वैशेषिक एवं बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष तथा अनुमान; सांख्य–योग एवं जैन दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द; न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द; प्रभाकर मीमांसा में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द तथा अर्थापत्ति; भाट्ट मीमांसा एवं अद्वैतवेदान्त में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अभाव को प्रमाण स्वीकार किया जाता है।

आचार्य अन्नम्भट्टकृत् 'तर्कसंग्रह' यद्यपि वैशेषिक दर्शन का प्रकरण ग्रन्थ है तथापि इसमें न्यायदर्शनसम्मत चतुर्विध प्रमाणव्यवस्था का विवेचन किया गया है। इन्द्रिय तथा अर्थ (विषय) के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। अनुमान प्रमाण लिंगपरामर्श से जन्य होता है। संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध का ज्ञान कराने वाला प्रमाण उपमान कहलाता है। आप्तवाक्य से जन्य प्रमाण को शब्द प्रमाण कहते हैं।

7.2 प्रत्यक्ष प्रमाण

'सर्वव्यवहारोहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्। सा द्विविधा – स्मृतिरनुभवश्च।

व्याख्या : न्याय–वैशेषिक दर्शन में बुद्धि को गुण माना गया है। तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट बुद्धि का लक्षण करते हैं – 'सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धिः ज्ञानम्' अर्थात् समस्त व्यवहार के असाधारण कारणरूप गुण को ज्ञान अर्थात् बुद्धि कहते हैं। अभिप्राय यह है कि ज्ञानरूप बुद्धि से सभी प्राणियों का प्रवृत्ति, निवृत्ति, आहार–विहार आदि सभी प्रकार का व्यवहार होता है। बुद्धि के अभाव में प्राणी किसी भी प्रकार का व्यवहार करने में समर्थ नहीं हो सकता है क्योंकि कोई भी व्यवहार तभी सफल एवं सम्भव होता है जब की व्यवहार करने वाले को व्यवहार किए जाने वाले विषय (वस्तु/पदार्थ) का बोध हो। जब तक वस्तु का ज्ञान प्राणी को नहीं होता है तब तक उसके सम्बन्ध में कोई भी व्यवहार नहीं हो सकता है। न्याय–वैशेषिक मतानुसार मनुष्य का व्यवहार – 'हान, उपादान एवं उपेक्षा' रूप से तीन प्रकार का हुआ करता है। हान का अर्थ है कि किसी वस्तु का परित्याग, उपादान का अर्थ है किसी वस्तु का ग्रहण तथा उपेक्षा का अर्थ है ग्रहण–त्याग से भिन्न उदासीनता का भाव होना। यह त्रिविध व्यवहार तभी सम्भव होता है जब प्राणी वस्तु के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। वस्तु के स्वरूप का ज्ञान बुद्धि से ही सम्पन्न किया जाता है इसीलिए बुद्धि को समस्त व्यवहारों का असाधारण कारण कहा जाता है।

प्रस्तुत लक्षण में यदि 'व्यवहारहेतुः' इतना ही लक्षण करते तो दण्ड आदि में भी बुद्धि का लक्षण चला जाता क्योंकि 'यह दण्ड है' इस व्यवहार के प्रति दण्ड भी हेतु है। इसलिए सर्व पद को लक्षण में रखा गया है, जिससे आ रहे दोष का निवारण किया जा सके। बुद्धि के इस लक्षण में निर्विकल्पक ज्ञान का समावेश नहीं होता है क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान से किसी भी प्रकार का साक्षात् व्यवहार नहीं होता है। इसीलिए 'तर्कसंग्रहदीपिका' में इस लक्षण का परिष्कार करते हुए कहा गया है – 'जानामीत्यनुव्यवसायगम्यज्ञानत्वम्'। अर्थात् बुद्धि वह ज्ञान है जो अनुव्यवसाय (मैं जानता हूँ इस प्रकार के ज्ञान का) ज्ञान का विषय बनता है। न्याय–वैशेषिक दर्शन की ज्ञानप्रक्रिया के अनुसार जब कोई ज्ञानकर्त्ता किसी भी पदार्थ (यथा–घट) का किसी भी प्रमाण की सहायता से ज्ञान करता है तो उसे 'अयं घटः' इस प्रकार का ज्ञान होता है; यह निश्चयात्मक ज्ञान 'व्यवसाय' कहलाता है। इस व्यवसायात्मक ज्ञान के पश्चात् आत्मा में 'अहं घटं जानामि' इत्याकारक ज्ञान होता है, जिसे 'अनुव्यवसाय' कहा जाता है। बुद्धि (ज्ञान) इसी अनुव्यवसायात्मक ज्ञान का विषय बनता है।

बुद्धि के भेदों का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं कि बुद्धि दो प्रकार की होती है : (1) स्मृति तथा; (2) अनुभव।

विशेष : न्याय–वैशेषिक दर्शन में बुद्धि, ज्ञान, उपलब्धि, बोध, प्रतीति, प्रत्यय– इन सभी को पर्याय माना जाता है जैसा कि न्यायसूत्रकार का वचन है –

'बुद्धिरूपलब्धिर्ज्ञानमित्यर्थान्तरम्'। बुद्धि इस दर्शन में स्वीकृत चतुर्विंशति गुणों में एक विशेष गुण है जो 'आत्मा' में समवाय सम्बन्ध से रहता है। स्मृति की परिभाषा इस प्रकार दी गई है – संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।

व्याख्या : तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट बुद्धि का लक्षण करते हैं – 'सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धिः ज्ञानम्' अर्थात् समस्त व्यवहार के असाधारण कारणरूप गुण को ज्ञान अर्थात् बुद्धि कहते हैं। बुद्धि दो प्रकार की होती है – (1) स्मृति तथा (2) अनुभव।

इनमें से प्रथम भेद 'स्मृति' का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं – 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' अर्थात् संस्कार मात्र से जन्य उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहते हैं। यदि 'संस्कारमात्रजन्यं स्मृतिः' ऐसा लक्षण करें तो संस्कारध्वंस में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि संस्कार का ध्वंस भी संस्कार से जन्य होता है। इसलिए लक्षण में ज्ञानपद का समावेश किया गया है, क्योंकि संस्कारध्वंस ज्ञान नहीं है। यदि 'जन्यं ज्ञानं स्मृतिः' इतना ही लक्षण किया जाय तो घटादि के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदि सभी प्रकार के ज्ञान में स्मृति का लक्षण चला जायेगा, जो अतिव्याप्ति होगी। इस अतिव्याप्ति के निवारणार्थ लक्षण में 'संस्कारमात्र' पद योजित किया गया है। स्मृति के इस लक्षण में 'मात्र' पद के रखने से 'प्रत्यभिज्ञा' में इसकी अतिव्याप्ति नहीं होती है। प्रत्यभिज्ञा एक ऐसा ज्ञान है जो संस्कार एवं अनुभव दोनों से मिलकर उत्पन्न होता है इसलिए लक्षण में मात्र पद का निवेश कर देने से स्मृति की प्रत्यभिज्ञा में होने वाली अतिव्याप्ति रूक जाती है।

स्मृति के उत्पन्न होने की प्रक्रिया इस प्रकार है – जब कोई प्रमाता किसी प्रमाण की सहायता से किसी वस्तु का अनुभव प्राप्त करता है तो उस अनुभव का एक संस्कार (भावना) उसकी आत्मा में सूक्ष्म रूप से स्थित हो जाता है। कालान्तर में सादृश्य, चिन्ता, अदृष्ट आदि कारणों के उपस्थित होने पर यह संस्कार उद्बुध हो जाता है जिसे स्मृति कहा जाता है।

विशेष : स्मृति जिस संस्कार से उत्पन्न होती है, न्याय–वैशेषिक दर्शन में उसे 'भावना' कहा जाता है। भावना, अनुभव से उत्पन्न होती है तथा स्मृति को उत्पन्न करती है। अनुभव एवं स्मृति के मध्य में रहने के कारण भावना को स्मृति की प्रक्रिया में 'व्यापार' माना जाता है। व्यापार का लक्षण है – 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः' अर्थात् जो हेतु से उत्पन्न होकर कार्य का जनक हो, वह व्यापार कहलाता है।

तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः। स द्विविधः यथार्थोऽयथार्थश्च। तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः यथार्थः। यथा रजते 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम्। सैव प्रमेत्युच्यते। तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः। यथा शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम्। सैवाऽप्रमेत्युच्यते।

व्याख्या : तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट बुद्धि का लक्षण वर्णित करते हैं – 'सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धिः ज्ञानम्' अर्थात् समस्त व्यवहार के असाधारण कारणरूप गुण को ज्ञान अर्थात् बुद्धि कहते हैं। बुद्धि दो प्रकार की होती है – (1) स्मृति तथा (2) अनुभव।

अनुभव की शाब्दिक व्युत्पत्ति है – 'अनु (पश्चात्) भवति इति अनुभवः'। प्रमाणव्यापार के पश्चात् जो ज्ञान होता है उसे अनुभव कहते हैं। 'अनुभव' का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं – 'तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः' अर्थात् तद् (स्मृति) से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं। स्मृति से अतिरिक्त सभी प्रकार के ज्ञान अनुभव कहलाते हैं। अनुभव

THE PEOPLE'S UNIVERSITY

के इस लक्षण में यदि 'ज्ञानमनुभवः' इतना ही लक्षण करें तो स्मृति में भी अनुभव का लक्षण चला जायेगा और स्मृति में अतिव्याप्ति होने लगेगी। इस अतिव्याप्ति दोष से बचने के लिए लक्षण में 'तद्भिन्नम्' पद को जोड़ा गया है। अनुभव दो प्रकार का होता है – (1) यथार्थ अनुभव, (2) अयथार्थ अनुभव

यथार्थ अनुभव का लक्षण करते हुए आचार्य कहते हैं – 'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः यथार्थः' जिसमें जो है, वहाँ उसी प्रकार का जो अनुभव होता है, उसे यथार्थानुभव कहते हैं। आशय यह है कि कोई भी पदार्थ जिस स्वरूप या स्वभाव का होता है उसको उसी स्वरूप या स्वभाव के रूप से जानना ही यथार्थ अनुभव कहलाता है। जैसे – रजत में 'यह रजत है' इस प्रकार का ज्ञान यथार्थानुभव है। इसी यथार्थज्ञान को 'प्रमा' कहा जाता है। न्याय–वैशेषिक दर्शन की ज्ञानमीमांसा के अनुसार जब भी हमें कोई विशिष्ट ज्ञान होता है तो उस ज्ञान में तीन प्रकार की विषयता रहती है – (1) प्रकारता या विशेषणता, (2) विशेष्यता, (3) संसर्गता या सम्बन्ध। उदाहरण रूप में 'अयं रक्तो घटः' (यह लाल घड़ा है) यह एक विशिष्ट ज्ञान है। इस ज्ञान में 'रक्त वर्ण', घट का विशेषण या प्रकार है अतः यह ज्ञान 'रक्तत्व प्रकारक' ज्ञान है। इसी ज्ञान में 'घट' विशेष्य है क्योंकि वही रक्त वर्ण से विशिष्ट है, अतः यह ज्ञान 'घटत्व विशेष्यक' भी है। विशेष्यभूत घट में प्रकारभूत रक्त वर्ण समवाय सम्बन्ध से रहता है क्योंकि रक्तवर्ण एक गुण है तथा घट एक द्रव्य (गुणी) है एवं न्याय–वैशेषिक दर्शन के नियमानुसार गुण–गुणी के मध्य समवाय सम्बन्ध होता है; अतः 'अयं रक्तो घटः' यह ज्ञान 'समवाय संसर्गक' है। इस प्रकार 'अयं रक्तो घटः' का अर्थ है – 'रक्तत्वप्रकारक–समवायसंसर्गक–घटविशेष्यक ज्ञान'। अब यथार्थानुभव के लक्षण का समन्वय इस प्रकार होगा – तद्वति = घटत्ववति (घटत्व से युक्त), तत्प्रकारक= घटत्वप्रकारक (घटत्व है प्रकार जिसमें), अनुभवः यथार्थानुभवः। अर्थात् घट में जो घटत्व है, वही 'अयं घटः' इस ज्ञान में प्रकारतया भासित हो रही है, इसलिए यह यथार्थानुभव या प्रमा है।

अयथार्थ अनुभव का लक्षण है – 'तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः'। जिसमें जो नहीं है, वहाँ उसके होने का जो अनुभव है, उसे अयथार्थ अनुभव कहते हैं। आशय यह है कि कोई भी पदार्थ जिस स्वरूप या स्वभाव का होता है उसको उसी स्वरूप या स्वभाव के रूप से न जानना ही अयथार्थ अनुभव कहलाता है। जैसे – रज्जु में 'यह सर्प है' इस प्रकार का ज्ञान अयथार्थानुभव है। अयथार्थानुभव को अप्रमा भी कहते हैं। यथार्थानुभव के लक्षण का समन्वय इस प्रकार होगा – तदभाववति = सर्पत्वाभाववति (सर्पत्व के अभाव वाली), तत्प्रकारक = सर्पत्वप्रकारक (सर्पत्व है प्रकार जिसमें), अनुभवः (ज्ञान) अयथार्थानुभव है। अर्थात् रज्जु में सर्पत्व का अत्यन्ताभाव है किन्तु वही रज्जु को देखकर होने वाले 'अयं सर्पः' इस ज्ञान में प्रकारतया भासित हो रही है, इसलिए यह अयथार्थानुभव या अप्रमा है।

विशेष : न्यायवैशेषिक दर्शन के अनुसार यथार्थानुभव (प्रमा) की उत्पत्ति 'गुणसहकृत प्रमाण' से होती है तथा अयथार्थानुभव (अप्रमा) की उत्पत्ति 'दोषसहकृत प्रमाण' से होती है। यथार्थानुभव – प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति एवं शाब्द के भेद से चार प्रकार का होता है तथा अयथार्थानुभव – संशय, विपर्यय एवं तर्क के भेद से तीन प्रकार का होता है।

यथार्थानुभश्चतुर्विधः प्रत्यक्षाऽनुमित्युपमितिशाब्दभेदात्। तत्करणमपि चतुर्विधं प्रत्यक्षाऽनुमानोपमानशब्दभेदात्।

व्याख्या : तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नमभट्ट ने यथार्थानुभव का निरूपण इस प्रकार से किया है – 'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः यथार्थः' जिसमें जो है, वहाँ उसी प्रकार का जो अनुभव होता है, उसे यथार्थानुभव कहते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द के भेद से यथार्थानुभव चार प्रकार का होता है। इन चारों ज्ञान के करण भी क्रमशः चार प्रकार के होते हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

विशेष : यथार्थानुभव को ही न्याय–वैशेषिक दर्शन में 'प्रमा' कहा जाता है। प्रमा के करण (असाधारण कारण) को ही 'प्रमाण' कहते हैं। वैशेषिक दर्शन में 2 प्रमाण स्वीकृत हैं – प्रत्यक्ष तथा अनुमान जबकि न्यायदर्शन 4 प्रमाण स्वीकार करता है – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द। 'तर्कसंग्रह' न्याय–वैशेषिक समन्वयवादी परम्परा का एक प्रकरण ग्रन्थ है जिसमें वैशेषिक दर्शन की पदार्थमीमांसा के साथ न्यायदर्शन की प्रमाणमीमांसा का विवेचन किया गया है।

असाधारणं कारणं करणम्। कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्। कार्यं प्रागभावप्रतियोगि।

व्याख्या : असाधारण कारण को करण कहते हैं। किसी भी कार्य के प्रति जो व्यापार का सम्पादक मुख्य असाधारण कारण है, वही करण माना जाता है। महर्षि पाणिनि के अष्टाध्यायी ग्रन्थ में करण का लक्षण किया है – 'साधकतमं करणम्' अर्थात् साधकतम को करण कहते हैं। साधकतम पद में निविष्ट तमप् प्रत्यय 'अतिशय' अर्थ का वाचक है, अतः करण वह है जो किसी कार्य का अतिशयेन साधक हो। किसी कार्य के प्रकृष्ट या सर्वोत्कृष्ट कारण को ही करण कहते हैं।

कार्य–कारण के सम्बन्ध में यह हमारा व्यावहारिक अनुभव है कि किसी भी कार्य की उत्पत्ति में अनेक कारणों की आवश्यकता होती है। कोई भी कार्य किसी एक ही कारण से जन्य नहीं होता है। वे कारण जिनकी अपेक्षा प्रत्येक कार्य में हुआ करती है वे सभी 'साधारण कारण' कहलाते हैं। इन साधारण कारणों के अतिरिक्त जितने भी कारण किसी कार्य की उत्पत्ति में अपेक्षित होते हैं, उन्हें 'असाधारण कारण' कहते हैं। असाधारण कारणों में से जो कारण प्रकृष्ट अर्थात् अतिशययुक्त होता है उसे ही करण कहा जाता है। प्राचीन न्याय में इस अतिशयता को 'व्यापार' कहा जाता है तथा करण का लक्षण – 'व्यापारवत् असाधारणं कारणं करणम्' किया जाता है। इसका अर्थ है कि व्यापार द्वारा जो किसी कार्य का असाधारण कारण बनता है, वही उस कार्य का करण होता है। व्यापार का लक्षण है – 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः' अर्थात् जो हेतु से उत्पन्न होकर कार्य का जनक हो, वह व्यापार कहलाता है। जैसे घट नामक कार्य की उत्पत्ति में 'कपालद्वयसंयोग' व्यापार है क्योंकि यह दण्डादि कारणों से उत्पन्न होकर उसी दण्डादि कारण से उत्पन्न घटरूपकार्य का जनक होता है। कपालद्वयसंयोगरूप व्यापार के द्वारा ही दण्ड, चक्र आदि घट की उत्पत्ति में असाधारण कारण बनते हुए 'करण' कहलाते हैं। नव्यनैयायिक इस परिभाषा से असहमत हैं तथा उनकी करण की परिभाषा है – 'फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम्' अर्थात् कार्य से निश्चित रूप से और तुरन्त पहले रहने वाला वह कारण जिसके तुरन्त बाद कार्य की उत्पत्ति हो जाती है, वह 'करण' कहलाता है।

करण का लक्षण करते समय कारण पद का प्रयोग हुआ था, अतः अब आचार्य कारण का लक्षण कर रहे हैं – 'कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्'। जो कार्य का नियत पूर्ववर्ती हो उसे कारण कहते हैं। कार्यनियत में नियत का अर्थ है निश्चित रूप से, वृत्ति का अर्थ रहना और पूर्वशब्द, काल का वाचक है। इस प्रकार लक्षण हुआ – जो कार्य उत्पन्न होता है, उससे ठीक पहले निश्चित रूप से जो विद्यमान हो, उसे कारण कहते हैं।

कारण के लक्षण में प्रयुक्त 'नियत' पद का अर्थ 'अवश्यंभावी' है। तात्पर्य यह है कि कभी–कभी कोई पदार्थ किसी कार्य की उत्पत्ति से पूर्व कार्यस्थल पर उपस्थित हो जाता है, इससे वह कार्य का 'पूर्ववृत्ति' तो हो जाता है किन्तु उसे उस कार्य का कारण नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उसे उस कार्य का कारण बनने के लिए 'कार्य नियत' (कार्य का व्यापक) होना चाहिए। यथा – घटनिर्माण के समय यदि कोई रासभ वहाँ उपस्थित हो जाए तो पूर्ववृत्ति होने के कारण उसे भी घटोत्पत्ति का कारण मानना पड़ेगा किन्तु रासभ को घट का कारण नहीं माना जाता है। इसी अतिव्याप्ति को रोकने के लिए कारण के लक्षण में 'नियत' पद का प्रयोग किया गया है। कारण के लक्षण में प्रयुक्त 'पूर्वभाव' पद का अर्थ 'कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में रहना' है। 'अव्यवहित पूर्वक्षण' का अर्थ है – कार्योत्पत्ति का वह पूर्वक्षण, जिसके ठीक उत्तरक्षण में कार्य की उत्पत्ति हो जाती है।

कार्य का लक्षण करते हुए आचार्य कहते हैं – 'कार्यं प्रागभाव प्रतियोगि' अर्थात् प्रागभाव के प्रतियोगी को कार्य कहते हैं। कार्य की उत्पत्ति के पहले रहने वाले अभाव को प्रागभाव कहते हैं। जब कार्य उत्पन्न होता है तो वह अपने अभाव को दूर कर देता है इसीलिए उसे प्रागभाव का प्रतियोगी कहा जाता है।

विशेष : न्यायदर्शन में कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण को 'सामग्रीक्षण' भी कहा जाता है। सामग्री का अर्थ है – कार्योत्पत्ति के समग्र कारणों का उपस्थित होना। न्याय–वैशेषिक मत में 'प्रतियोगि' एक प्रकार का सम्बन्ध है जिसकी कल्पना अभाव पदार्थ की भाव पदार्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए की जाती है। भाव पदार्थों का अभाव के साथ सम्बन्ध ही प्रतियोगिता कहलाती है। जैसे – घट घटाभाव का प्रतियोगि है।

कारणं त्रिविधम्–समवाय्यमवायिनिमित्तभेदात्। यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। यथा–तन्तवः पटस्य, पटश्च स्वगतरूपादेः। कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् कारणम् असमवायिकारणम्। यथा तन्तु संयोगः पटस्य, तन्तुरूपं पटगतरूपस्य च। तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम्, यथा–तुरीवेमादिकं पटस्य। तदेत्त्रिविधकारणमध्ये यदसाधारणं कारणम् तदेव करणम्।

व्याख्या : आचार्य अन्नम्मभट्ट कारण का लक्षण करते हैं – 'कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्'। जो कार्य का नियत पूर्ववर्ती हो उसे कारण कहते हैं। कारण के तीन भेद हैं – समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण।

इन त्रिविध कारणों में समवायिकारण का लक्षण है – 'यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्'। जिसमें समवायसम्बन्ध से रहकर कार्य उत्पन्न होता है, उसे समवायिकारण कहते हैं। जिस कारण में जो कार्य समवायसम्बन्ध से रहता है, वह कारण समवायिकारण कहलाता है। जैसे – तन्तु से पट का निर्माण होता है और जब तक पट रहे तब तक तन्तु रहता ही है अथवा जब तक तन्तु रहे तब तक पट रहता है। इस तरह पट रूप कार्य अपने कारण तन्तुओं में नित्यसम्बन्ध से रहता है। इसलिए तन्तु यहाँ पर पट का समवायिकारण है।

दूसरा उदाहरण में स्वगत रूप के प्रति स्वयं पट समवायिकारण होता है। पट के उत्पन्न होने के बाद उसी पट में रूप समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होने के कारण स्वगतरूप के प्रति पट समवायिकारण बना। तन्तु से पट की उत्पत्ति होने पश्चात् एकक्षण विलम्ब से ही उसमें उत्पन्न होता है, क्योंकि पटरूप के प्रति पटरूप के

समवायिकारण होने से कार्य से पूर्व में कारण का होना आवश्यक है और कारण के बाद ही उससे कार्य की उत्पत्ति मानी जाती है।

असमवायिकारण का लक्षण है – 'कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् कारणम् असमवायिकारणम्'। कार्य अथवा कारण के साथ एक पदार्थ में समवायसम्बन्ध से रहने वाला जो कारण है, वह असमवायिकारण है। असमवायिकारण का दो प्रकार से लक्षण किया गया है – प्रथम कार्येण सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् यत्कारणं अर्थात् कार्य के साथ एक पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता हुआ जो कारण है, वह असमवायिकारण है। यथा – तन्तुसंयोग, पटात्मक कार्य के साथ एक पदार्थ तन्तु में समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ कारण है और इसमें तन्तुओं का संयोग जो कारण है, वही असमवायिकारण हुआ। कार्य पट के साथ एकत्र तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता हुआ तन्तुसंयोग रूप कारण पट के प्रति असमवायिकारण होता है। असमवायिकारण का दूसरा प्रकार है – 'कारणेन सह एकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् यत्कारणम्' अर्थात् कारण के साथ एक ही पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ जो कारण है, वह भी असमवायिकारण है। यथा – तन्तुरूप, पटरूप का असमवायिकारण है अर्थात् पट के रूप का कारण है तन्तुओं का रूप। वह पट अपने कारण तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इस प्रकार तन्तु में स्थित रूप ही पटगत रूप के प्रति कारण है। वह तन्तुओं का रूप पट के रूप के प्रति असमवायिकारण है। अपने कार्य के समवायिकारण के साथ एकत्र समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहता हुआ कारण ही समवायिकारण है। प्रथम लक्षण के अनुसार अवयवों का संयोग और द्वितीय लक्षण के अनुसार अवयवी के गुण रूप आदि के प्रति अवयव के गुण रूप आदि असमवायिकारण होते हैं।

'निमित्तकारण' का स्वरूप बताते हुए आचार्य कहते हैं कि समवायिकारण और असमवायिकारण इन दोनों कारणों से जो भिन्न कारण है, उसे निमित्तकारण कहते हैं। जैसे कपडे बनाने में सहायक यन्त्र तुरी, वेमा आदि ये निमित्तकारण है।

समवायि, असमवायि एवं निमित्त तीनों कारणों में जो असाधारण कारण है, उसे ही करण कहा जाता है।

विशेष : कार्य के त्रिविध कारणों में समवायिकारण केवल द्रव्य होता है। गुण या कर्म किसी कार्य के असमवायिकारण होते हैं। निमित्तकारण द्रव्य, गुण, कर्म के साथ कोई भी पदार्थ हो सकता है।

तत्र प्रत्यक्षज्ञानकरणम् प्रत्यक्षम्। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। तद्द्विविधम् – निर्विकल्पकं सविकल्पकं चेति। तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्, यथेदं किंचित्। सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्, यथा डित्थोऽयं श्यामोऽयमिति।

व्याख्या : प्रत्यक्ष का निरूपण करते हुए आचार्य अन्नम्भट्ट कहते हैं कि प्रत्यक्षज्ञान का जो असाधारण कारण है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। चक्षु, रसन, श्रोत, घ्राण, त्वक् और मन इन छः इन्द्रियों के द्वारा वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष यह प्रमाण भी है और ज्ञान भी। प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे भी प्रत्यक्ष कहते हैं।

तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ (विषय) का सन्निकर्ष प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु है। ज्ञानेन्द्रियों की संख्या 5 है – चक्षु, श्रोत, त्वक्, रसना एवं घ्राण। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय नियत विषय का ही ग्रहण करती है जैसे चक्षु रूप का, श्रोत शब्द का, त्वक् स्पर्श का, रसना रस का तथा घ्राण गन्ध का। जब कोई इन्द्रिय अपने

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

नियत विषय के साथ संयुक्त होती है तो उस सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रिय और अर्थ (पदार्थ) के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रदत्त लक्षण में सन्निकर्ष पद का अर्थ–संयोग आदि सम्बन्ध विशेष है एवं अर्थ पद का अर्थ विषय है। इन्द्रियों का उनके विषयों के साथ सन्निकर्ष होना प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है। यथा –

इन्द्रिय	**अर्थ (विषय)**	**प्रत्यक्ष**
घ्राण	गन्ध	घ्राणज
रसना	रस	रासन
चक्षु	रूप	चाक्षुष
त्वक्	स्पर्श	स्पार्शन (त्वाक्)
श्रोत्र	शब्द	श्रोतज
मन	सुखदुःख आदि	मानस

प्रत्यक्ष ज्ञान के भेदों का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं कि प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है– (1) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, (2) सविकल्पक प्रत्यक्ष।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप है – 'निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्' अर्थात् निष्प्रकारक ज्ञान को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। न्याय–वैशेषिक मत में प्रकार का अर्थ विशेषण होता है, अतः प्रकारता का अर्थ 'विशेषणता' है। जो ज्ञान विशेषणता से रहित होता है वह निर्विकल्पक कहलाता है। निर्विकल्पक शब्द की व्युत्पत्ति है – 'निर्गतः विकल्पो यस्मात् स निर्विकल्पकः' अर्थात् जिससे समस्त विकल्प निकल गए हों वह निर्विकल्पक कहलाता है। निर्विकल्पक पद में प्रयुक्त 'विकल्प' का अर्थ है – 'नामजात्याद्ययोजना'। किसी ज्ञान में प्रतीत होने वाले नाम, जाति, गुण आदि को ही विकल्प कहा जाता है । जिस ज्ञान में नाम, जाति इत्यादि की प्रतीति नहीं हुआ करती है वही निर्विकल्पक ज्ञान कहलाता है। आशय यह है कि जिस ज्ञान में वस्तु के केवल स्वरूप मात्र की अनुभूति होती है, उसकी किसी विशेषणता का अनुभव नहीं होता है उसे ही निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। उदाहरणरूप में अबोध बालक तथा किसी मूक व्यक्ति का ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान के तुल्य होता है – 'बालमूकादिविज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम्'। तर्कसंग्रहकार ने निर्विकल्पक ज्ञान का स्वरूप 'इदं किंचित्' (यह कुछ है) रूप से निरुपित किया है। किसी पदार्थ का प्रथम दर्शन होने पर जब हमें 'यह कुछ है' इस प्रकार से वस्तु के केवल अस्तित्व मात्र का अनुभव होता है तो वही ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान माना जाता है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष का स्वरूप है – 'सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्' अर्थात् सप्रकारक ज्ञान को सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। सविकल्पक शब्द की व्युत्पत्ति है – 'विकल्पेन सहितः सविकल्पः' अर्थात् जिसमें विकल्प विद्यमान हो वह सविकल्पक कहलाता है। सविकल्पक का अर्थ है – 'नामजात्याद्ययोजनासहितं सविकल्पकम्'। जो ज्ञान नाम, जाति आदि प्रकार से युक्त होता है उसे सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। आशय यह है कि जिस ज्ञान में विशेषण, विशेष्य तथा उनके मध्य के सम्बन्ध की प्रतीति होती है उसे ही सविकल्पक ज्ञान कहा जाता है। सविकल्पक ज्ञान का उदाहरण है – 'यह डित्थ है' – यहाँ डित्थ एक व्यक्तिविशेष का नाम है जो कि इस ज्ञान में भासित हो रहा है, इसलिए यह सविकल्पक ज्ञान है। इसी प्रकार 'यह श्याम है' इस ज्ञान में श्याम एक

वर्ण है जो किसी पदार्थ का विशेषण है, इसलिए यह भी सविकल्पक ज्ञान है। मानव जीवन का समस्त व्यवहार सविकल्पक ज्ञान के आधार पर ही होता है।

विशेष : न्याय–वैशेषिक मत में प्रत्यक्ष की प्रक्रिया इस प्रकार है – आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनिति अर्थात् सर्वप्रथम आत्मा मन से संयुक्त होती है, इसके बाद मन विषयानुरूप इन्द्रिय से संयुक्त होता है, पुनश्च इन्द्रिय विषय के साथ संयुक्त होती है जिसके पश्चात् ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। निर्विकल्पक ज्ञान को 'वैशिष्ट्यानवगाहि ज्ञान' तथा सविकल्पक ज्ञान को 'वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञान' भी कहा जाता है। यद्यपि निर्विकल्पक ज्ञान से किसी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं होती है तथापि उसे पूर्व में स्वीकार किए बिना सविकल्पक ज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती है। इस दर्शन में निर्विकल्पक ज्ञान की सिद्धि अनुमान प्रमाण से की जाती है।

प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः षड्विधः – संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावश्चेति। चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने संयोगः सन्निकर्षः। घटरूपप्रत्यक्षजनने संयुक्तसमवायय सन्निकर्षः। चक्षुः संयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्। रूपत्वसामान्यप्रत्यक्षे, संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः। चक्षुः संयुक्ते घटे रूपं समवेतम्, तत्र रूपत्वस्य समवायात्। श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कारे समवायः सन्निकर्षः। कर्णविवरवर्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वाच्छब्दस्याकाशगुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात्। शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायः सन्निकर्षः। श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्। अभावप्रत्यक्षे विशेषविशेष्यभावः सन्निकर्षः। घटाभाववद् भूतलम् इत्यत्र चक्षुः संयुक्ते भूतले घटाभावस्य विशेषणत्वात्। एवं सन्निकर्षषट्कजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, तत्करणम् इन्द्रियम्। तस्मादिन्द्रियं प्रत्यक्षप्रमाणमिति सिद्धम्।

व्याख्या : तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ (विषय) का सन्निकर्ष प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु है । ज्ञानेन्द्रियों की संख्या 5 है – चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, रसना एवं घ्राण। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय नियत विषय का ही ग्रहण करती है जैसे चक्षु रूप का, श्रोत्र शब्द का, त्वक् स्पर्श का, रसना रस का तथा घ्राण गन्ध का। जब कोई इन्द्रिय अपने नियत विषय के साथ संयुक्त होती है तो उस सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रिय एवं अर्थ के मध्य होने वाला यह सन्निकर्ष 6 प्रकार का होता है – (1) संयोग, (2) संयुक्तसमवाय, (3) संयुक्तसमवेतसमवाय, (4) समवाय, (5) समवेत समवाय, (6) विशेषणविशेष्यभाव

चक्षु इन्द्रिय से घट आदि द्रव्य के प्रत्यक्षज्ञान में संयोग नामक सन्निकर्ष होता है। सभी इन्द्रिय द्रव्य ही हैं। यदि इन्द्रियों के विषय भी द्रव्य ही हैं तो उन इन्द्रियों और विषयों का सन्निकर्ष संयोग सन्निकर्ष ही होता है क्योंकि द्रव्ययोः संयोगः अर्थात् द्रव्यों का संयोग ही होता है ऐसा नियम है। चक्षु इन्द्रिय के द्वारा घट नामक द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है तो वहाँ संयोग सन्निकर्ष ही होता है। चक्षुरिन्द्रिय तैजस द्रव्य है और घट पार्थिव द्रव्य है। उन दोनों के संयोग सन्निकर्ष से चाक्षुष प्रत्यक्ष हुआ। ज्ञान की एक प्रक्रिया होती है, जिस प्रक्रिया के निर्विघ्न समाप्ति होने पर ही ज्ञान होता है। किसी भी ज्ञान होने के लिए पहले आत्मा से संयुक्त मन इन्द्रिय से जुड़ता है और मन से संयुक्त इन्द्रिय अर्थ (विषय) से जुडता है, उसके उपरान्त ज्ञान होता है।

चक्षु–इन्द्रिय से घट के रूप का प्रत्यक्ष होने में संयुक्त–समवाय–सन्निकर्ष होता है। पृथिवी आदि द्रव्यों में समवाय से विद्यमान गुण, क्रिया, जाति का इन्द्रिय के साथ जो सन्निकर्ष होता है, वह संयुक्त समवाय होता है क्योंकि चक्षु संयुक्त घट में समवाय सम्बन्ध से स्थित गुणभूत रूप के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवाय नामक सन्निकर्ष ही रहता

है। चक्षु से संयुक्त घट गुणी द्रव्य गुणी द्रव्य है और घट में विद्यमान रूप गुण ही है। अतः वह समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है, क्योंकि गुण और गुणी का समवायसम्बन्ध होता है। इस प्रकार गुणों का द्रव्यसमवेत का प्रत्येक प्रत्यक्ष संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष होता है।

चक्षु से रूपत्व जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्त–समवेत–समवाय–सन्निकर्ष माना जाता है। चक्षु के द्वारा संयुक्त घट है, घट में रूप समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है और उसी रूप में रूपत्व जाति भी समवाय सम्बन्ध से ही है। इस प्रकार द्रव्यसंयुक्तसमवेत समवेत के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है।

श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द नामक गुण के प्रत्यक्ष ज्ञान में समवाय नामक सन्निकर्ष होता है। विषय उस इन्द्रिय का गुण है तो गुणगुणिनोः समवायः इस नियम के अनुसार इन्द्रिय और विषय का समवाय सन्निकर्ष होता है। श्रवणेन्द्रिय से शब्द का प्रत्यक्ष होता है। श्रवणेन्द्रिय कर्णविवरवर्ती आकाशरूप है। इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का समवाय सन्निकर्ष होता है।

श्रोत्रेन्द्रिय से शब्दत्व जाति के प्रत्यक्ष में समवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है। विषय उसी इन्द्रिय का गुणरूप हो तो उस गुण में विद्यमान जाति का उसी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने में समवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है। श्रोत्र में समवाय सम्बन्ध से शब्द से शब्द है, उसी शब्द में समवाय सम्बन्ध से शब्दत्व जाति है। इस प्रकार शब्दत्व जाति के प्रत्यक्ष ज्ञान में समवेतसमवाय सन्निकर्ष हुआ।

अभाव के प्रत्यक्षज्ञान में विशेषण–विशेष्यभाव सन्निकर्ष माना जाता है। जब 'घटाभाववद् भूतलम्' इस तरह प्रतीति होती है, तब घटाभाव विशेषण है, भूतल विशेष्य। जब भूतले घटो नास्ति इस तरह की प्रतीति होती है, तब भूतल विशेषण होता है और घटाभाव विशेष्य। इस प्रकार अभाव के प्रत्यक्षज्ञान में विशेषण–विशेष्य भाव सन्निकर्ष होता है।

संयोग आदि छः सन्निकर्षों से उत्पन्नज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। इस ज्ञान की करण इन्द्रियाँ है। अत एव इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, यह सिद्ध होता है।

विशेष– छः सन्निकर्षों से होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्षज्ञान है। एतादृश प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति व्यापार वाला असाधारण कारण छः प्रकार की इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। इन्हीं से हमें प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

7.3 सारांश

तत्त्वचिन्तन की प्रक्रिया में प्रमाणमीमांसा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि प्रमाणों की सहायता से ही प्रमेयों (तत्त्वों) का ज्ञान सम्भव होता है। दर्शनसरणियों में यह प्रसिद्ध उक्ति भी है – 'मानाधीना मेयसिद्धिः' अर्थात् मेय (प्रमेय) की सिद्धि मान (प्रमाण) के अधीन होती है। प्रमा या यथार्थज्ञान की उपलब्धि किसी साधन की सहायता से ही होती है इसलिए सामान्य रूप से प्रमा की उपलब्धि के साधन ही प्रमाण कहलाते हैं।

न्याय–वैशेषिक दर्शन में बुद्धि को गुण माना गया है। तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट बुद्धि का लक्षण करते हैं – 'सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धिः ज्ञानम्' अर्थात् समस्त व्यवहार के असाधारण कारणरूप गुण को ज्ञान अर्थात् बुद्धि कहते हैं। अभिप्राय यह है ज्ञानरूप बुद्धि से सभी प्राणियों का प्रवृत्ति, निवृत्ति, आहार–विहार आदि सभी प्रकार का व्यवहार होता है। बुद्धि के भेदों का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं कि बुद्धि दो प्रकार की

होती है – (1) स्मृति तथा (2) अनुभव। संस्कार मात्र से जन्य उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहते हैं। स्मृति से अतिरिक्त सभी प्रकार के ज्ञान अनुभव कहलाते हैं। अनुभव दो प्रकार का होता है – (1) यथार्थ अनुभव (2) अयथार्थ अनुभव।

कोई भी पदार्थ जिस स्वरूप या स्वभाव का होता है उसको उसी स्वरूप या स्वभाव के रूप से जानना ही यथार्थ अनुभव कहलाता है। यथार्थानुभव को ही न्याय–वैशेषिक दर्शन में 'प्रमा' कहा जाता है। प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द के भेद से यथार्थानुभव चार प्रकार का होता है। कोई भी पदार्थ जिस स्वरूप या स्वभाव का होता है उसको उसी स्वरूप या स्वभाव के रूप से न जानना ही अयथार्थ अनुभव कहलाता है।

न्याय–वैशेषिक दर्शन में असाधारण कारण को करण कहते हैं। किसी भी कार्य के प्रति जो व्यापार का सम्पादक मुख्य असाधारण कारण है, वही करण माना जाता है। 'कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्' – जो कार्य का नियत पूर्ववर्ती हो उसे कारण कहते हैं। कार्यनियत में नियत का अर्थ है निश्चित रूप से, वृत्ति का अर्थ रहना और पूर्वशब्द, काल का वाचक है। इस प्रकार लक्षण हुआ – जो कार्य उत्पन्न होता है, उससे ठीक पहले निश्चित रूप से जो विद्यमान हो, उसे कारण कहते हैं । कारण के तीन भेद हैं – समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण।

प्रत्यक्षज्ञान का जो असाधारण कारण है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रिय और अर्थ (विषय) का सन्निकर्ष प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु है। ज्ञानेन्द्रियों की संख्या 5 है – चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, रसना एवं घ्राण। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय नियत विषय का ही ग्रहण करती है जैसे चक्षु रूप का, श्रोत्र शब्द का, त्वक् स्पर्श का, रसना रस का तथा घ्राण गन्ध का। जब कोई इन्द्रिय अपने नियत विषय के साथ संयुक्त होती है तो उस सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है – (1) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष, (2) सविकल्पक प्रत्यक्ष

किसी ज्ञान में प्रतीत होने वाले नाम, जाति, गुण आदि को ही विकल्प कहा जाता है। जिस ज्ञान में नाम, जाति इत्यादि की प्रतीति नहीं हुआ करती है वही निर्विकल्पक ज्ञान कहलाता है। जो ज्ञान नाम, जाति आदि प्रकार से युक्त होता है उसे सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। आशय यह है कि जिस ज्ञान में विशेषण, विशेष्य तथा उनके मध्य के सम्बन्ध की प्रतीति होती है उसे ही सविकल्पक ज्ञान कहा जाता है। इन्द्रिय और अर्थ (विषय) का सन्निकर्ष प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु है। इन्द्रिय एवं अर्थ के मध्य होने वाला यह सन्निकर्ष 6 प्रकार का होता है – (1) संयोग, (2) संयुक्तसमवाय, (3) संयुक्तसमवेतसमवाय, (4) समवाय, (5) समवेत समवाय, (6) विशेषणविशेष्यभाव।

चक्षु इन्द्रिय से घट आदि द्रव्य के प्रत्यक्षज्ञान में संयोग नामक सन्निकर्ष होता है। चक्षु–इन्द्रिय से घट के रूप का प्रत्यक्ष होने में संयुक्त–समवाय–सन्निकर्ष होता है। चक्षु से रूपत्व जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्त–समवेत–समवाय–सन्निकर्ष माना जाता है। श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द नामक गुण के प्रत्यक्ष ज्ञान में समवाय नामक सन्निकर्ष होता है। श्रोत्रेन्द्रिय से शब्दत्व जाति के प्रत्यक्ष में समवेतसमवाय सन्निकर्ष होता है। अभाव के प्रत्यक्षज्ञान में विशेषण–विशेष्यभाव सन्निकर्ष माना जाता है। छः सन्निकर्षों से होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्षज्ञान है। एतादृश प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति व्यापार वाला असाधारण कारण छः प्रकार की इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमाण है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

7.4 शब्दावली

प्रमा, प्रमाण, कारण, करण, अवान्तरव्यापार , प्रत्यक्ष, सन्निकर्ष, बुद्धि, ज्ञान, समवायिकारण, असमवायिकारण, निमित्तकारण, प्रागभाव, प्रतियोगि, इन्द्रिय, अर्थ, षड्विध सन्निकर्ष।

7.5 उपयोगी पुस्तकें

- तर्कसंग्रहः (स्वोपज्ञव्याख्यातर्कदीपिकासहितः), (व्याख्याकार) डॉ. दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2012।
- तर्कसंग्रहः (स्वोपज्ञव्याख्यातर्कदीपिकापदकृत्यतर्कमीमांसासहितः), (व्याख्याकार) डॉ. राजेश्वरशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2013।
- भारतीय दर्शन, दत्ता एवं चटर्जी, पुस्तक भण्डार, पटना, 1969।
- Tarksangraha of Annambhatta (with Dipika & Nyayabodhini), (Ed. & Tr.) Athalye & Bodas, Mumbai, 1930.

7.6 अभ्यास प्रश्न

1) बुद्धि एवं उसके भेदों का निरूपण कीजिए?
2) स्मृति का लक्षण देते हुए स्मरण की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए?
3) अनुभव तथा इसके भेदों का विशद विवेचन कीजिए?
4) करण, कारण एवं कारण के त्रिविध प्रकारों का निरूपण कीजिए?
5) प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप का विवेचन कीजिए?
6) प्रत्यक्ष के द्विविध भेदों का विस्तृत वर्णन कीजिए?
7) षड्विध सन्निकर्ष का वर्णन कीजिए?

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 8 प्रमाण निरूपण : अनुमान, उपमान, शब्द

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- अनुमान प्रमाण का लक्षण, स्वरूप तथा उसके भेदों के बारे में परिचय प्राप्त करेंगे।
- हेत्वाभास के स्वरूप एवं उसके भेदों को जान सकेंगे।
- उपमान प्रमाण के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगें।
- शब्द प्रमाण के स्वरूप से परिचित होंगे।
- अयथार्थ अनुभव तथा उसके भेदों का विस्तृत बोध करेंगे; तथा
- अनुमान, उपमान एवं शब्द प्रमाण की पारिभाषिक शब्दावली तथा विशिष्ट प्रयोग विधि का ज्ञान प्राप्त करेंगे।

8.1 प्रस्तावना

भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्परा स्वाभिमत सैद्धान्तिक चिन्तन को जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए तीन पद्धतियों का प्रयोग करती है – तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा तथा आचारमीमांसा। तत्त्वचिन्तन की इस प्रक्रिया में प्रमाणमीमांसा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि प्रमाणों की सहायता से ही प्रमेयों (तत्त्वों) का ज्ञान सम्भव होता है। दर्शनसरणियों में यह प्रसिद्ध उक्ति भी है – 'मानाधीना मेयसिद्धिः' अर्थात् मेय (प्रमेय) की सिद्धि मान (प्रमाण) के अधीन होती है। प्रमा या यथार्थज्ञान की उपलब्धि किसी साधन की सहायता से ही होती है इसलिए सामान्य रूप से प्रमा की उपलब्धि के साधन ही प्रमाण कहलाते हैं। 'प्रमाण' शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी तथ्य को उद्घाटित करती है– 'प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्' अर्थात् जिससे प्रमा की प्राप्ति हो उसे प्रमाण कहते हैं। न्यायभाष्यकार आचार्य वात्स्यायन का कथन है – 'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि' अर्थात् उपलब्धि ज्ञान के साधन ही प्रमाण हैं।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में प्रमाणों की संख्या तथा उसके लक्षण एवं स्वरूप में अत्यन्त मतभेद है। चार्वाक दर्शन जहाँ केवल प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानता है वहीं वैशेषिक एवं बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष तथा अनुमान; सांख्य–योग एवं जैन दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द; न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द; प्रभाकर मीमांसा में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द तथा अर्थापत्ति; भाट्ट मीमांसा एवं अद्वैतवेदान्त में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अभाव को प्रमाण स्वीकार किया जाता है।

आचार्य अन्नम्भट्टकृत 'तर्कसंग्रह' यद्यपि वैशेषिक दर्शन का प्रकरण ग्रन्थ है तथापि इसमें न्यायदर्शनसम्मत चतुर्विध प्रमाणव्यवस्था का विवेचन किया गया है। इन्द्रिय तथा अर्थ (विषय) के संनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। अनुमान प्रमाण लिंगपरामर्श से जन्य होता है। संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध का ज्ञान कराने वाला प्रमाण उपमान कहलाता है। आप्तवाक्य से जन्य प्रमाण को शब्द प्रमाण कहते हैं।

8.2 अनुमान प्रमाण (अनुमितिकरणम् से इति बाधित्वम् पर्यन्त)

अनुमितिकरणमनुमानम्। परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः। व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः'। यथा 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत' इति ज्ञानं परामर्शः'। तज्जन्यं पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानमनुमितिः। यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः। व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता।

प्रसंग : प्रस्तुत अनुच्छेद में तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट न्याय–वैशेषिक परम्परा में स्वीकृत अनुमान प्रमाण के स्वरूप का विवेचन करते हैं। इसी प्रसंग में वे अनुमान प्रमाण की सिद्धि में सहायक अनेक शब्दों यथा– अनुमिति, व्याप्ति, परामर्श, पक्षधर्मता आदि का लक्षण एवं स्वरूप भी स्पष्ट करते हैं।

व्याख्या : सर्वप्रथम अनुमान का लक्षण करते हुए आचार्य कहते हैं कि अनुमिति ज्ञान का करण ही अनुमान प्रमाण कहलाता है। 'करण' का अर्थ असाधारण कारण है अर्थात् जिस कारण का प्रयोग करते ही कार्य की तुरन्त निष्पत्ति हो जाय। जिस प्रकार छिदा रूप कार्य के प्रति परशुकरण है क्योंकि परशु का दारु से संयोग होते ही छिदा की निष्पत्ति हो जाती है, उसी प्रकार अनुमान की प्रक्रिया में 'परामर्श' को अनुमिति का करण कहा जाता है। अनुमिति वस्तुतः परामर्श से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है।

पुनः ग्रन्थकार परामर्श का लक्षण करते हैं – ''व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः'' अर्थात् व्याप्ति से विशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान परामर्श कहलाता है। उदाहरणरूप में धूम और अग्नि का आपस में जो एक अवश्यप्राप्ति रूप सम्बन्ध है कि जहाँ–जहाँ धूम होगा वहाँ–वहाँ अग्नि अवश्य हुआ करेगी, यह जो विशिष्ट स्थिति है जिसके माध्यम से पक्ष अर्थात् पर्वत में धूम के रहने का ज्ञान ही परामर्श है। व्याप्ति ग्रहण के पश्चात् जब कोई पर्वत रूप पक्ष में धूम को देखता है तो वह व्याप्ति का स्मरण करते हुए यह कहता है कि 'यह पर्वत अग्नि से व्याप्य धूमवान है' (क्योंकि जहाँ धूम रहता है वहाँ अग्नि का भी प्राप्त होना निश्चित है); इस प्रकार का ज्ञान ही परामर्श है। इस परामर्श द्वारा उत्पन्न हुआ यह ज्ञान कि 'यह पर्वत अग्नि वाला है' अर्थात् इसमें धूम होने के कारण अग्नि अवश्य ही है, यही ज्ञान अनुमिति कहलाती है।

'व्याप्ति' का लक्षण स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि साहचर्य नियम को व्याप्ति कहा जाता है। उदाहरण रूप में जहाँ–जहाँ धूम होता है वहाँ–वहाँ अग्नि होती है, इस

प्रकार अग्नि और धूम की साहचर्यता (साथ–साथ रहने का स्वभाव) का ज्ञान ही व्याप्ति है।

'पक्षधर्मता' का अर्थ है – व्याप्य का पक्ष में रहना। पर्वत पर धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करने की प्रक्रिया में धूम व्याप्य है तथा पर्वत पक्ष है। व्याप्य अर्थात् धूम का पक्ष अर्थात् पर्वत में रहने का जो गुणधर्म है, वही पक्षधर्मता है।

विशेष : अनुमान का शाब्दिक अर्थ है – 'अनु पश्चात् मानम् अनुमानम्' जिसके अनुसार अनुमान, प्रत्यक्ष के पश्चात् होने वाला प्रमाण है। न्याय–वैशेषिक परम्परा में अनुमान प्रमाण के दो अंग माने जाते हैं – व्याप्ति तथा पक्षधर्मता। इनमें व्याप्ति के द्वारा साध्यसामान्य की सिद्धि होती है तथा पक्षधर्मता के ज्ञान से साध्यविशेष को सिद्ध किया जाता है।

अनुमानं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः। तथाहि – स्वयमेव भूयो दर्शनेन यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतस्तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वते धूमं पश्यन् व्याप्तिं स्मरति – 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' इति। तदनन्तरं वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत इति ज्ञानमुत्पद्यते। अयमेव लिङ्परामर्श इत्युच्यते। तस्मात्पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानमनुमितिरुत्पद्यते। तदेतत्स्वार्थानुमानम्।

व्याख्या : अनुमान प्रमाण के दो भेद हैं – स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान।

'स्वार्थानुमान' वह अनुमान है जहाँ अनुमानकर्त्ता स्वयं ही अनुमिति की प्रक्रिया को संपन्न करता है। यथा – स्वयं ही बार–बार के दर्शन या ज्ञान के प्रयास से महानस (रसोईघर) में 'जहाँ–जहाँ धूम है वहाँ–वहाँ अग्नि अवश्य उपलब्ध होता है' इस प्रकार की व्याप्ति का निश्चय कर लेता है। इस व्याप्ति ज्ञान को ग्रहण करने के उपरान्त जब कभी वह पर्वत (पक्ष) पर जाता है तथा पर्वत से धूम को निकलते हुए देखता है तो स्वयं को सन्देहयुक्त अनुभव करता है कि यहाँ अग्नि हो सकती है। पुनः वह धूम एवं अग्नि के साहचर्यभूत व्याप्ति का स्मरण करता है कि – 'जहाँ–जहाँ धूम होता है वहाँ–वहाँ अग्नि अवश्य होती है'। इसके पश्चात् उसे यह ज्ञान हो जाता है कि यह पर्वत अग्नि से व्याप्त धूम वाला है, इसी ज्ञान को परामर्श ज्ञान कहते हैं। इसी परामर्श ज्ञान के उपरान्त अनुमानकर्त्ता को यह ज्ञान हो जाता है कि 'यह पर्वत अग्निमान है'। इसे ही अनुमिति ज्ञान कहते हैं। चूँकि यह अनुमिति अनुमान करने वाला स्वयं ही संपन्न करता है इसलिए इस प्रकार के अनुमान को स्वार्थानुमान कहते हैं।

यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं प्रति बोधयितुं पञ्चावयववाक्यं प्रयुङ्क्ते तत्परार्थानुमानम्। यथा – पर्वतो वह्निमान्, धूमत्वात्। यो यो धूमवान् स स वह्निमान्। यथा महानसम्। तथा चायम्, तस्मात्तथेति। अनेन प्रतिपादिताल्लिङ्गात् परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते। प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनय–निगमनानि पञ्चावयवाः। पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञा। धूमवत्त्वादिति हेतुः। यो यो धूमवान् स स वह्निमान् इत्युदाहरणम्। तथा चायमित्युपनयः। तस्मात्तथेति निगमनम्। स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योर्लिंगपरामर्श एव करणम्। तस्माल्लिंगपरामर्शोऽनुमानम्।

व्याख्या : ग्रन्थकार अनुमान प्रमाण के द्वितीय भेद 'परार्थानुमान' का लक्षण, उदाहरण तथा उसके अवयवों का निरूपण करते हैं। परार्थानुमान का शाब्दिक अर्थ है – दूसरों को कराया गया अनुमान का ज्ञान। जब कोई व्यक्ति स्वयं धूम से अग्नि का अनुमितिज्ञान करने के उपरान्त किसी अन्य व्यक्ति को उस अनुमान का ज्ञान कराना

चाहता है तो वह मात्र स्वार्थानुमान की प्रक्रिया से उस दूसरे व्यक्ति को यह ज्ञान नहीं करा सकता है। इसके लिए वह एक भिन्न पद्धति का प्रयोग करता है जिसमें अनुमान के पञ्चावयव वाक्यों की सहायता से दूसरे व्यक्ति को अनुमान की प्रक्रिया का निदर्शन कराता है। इस माध्यम से दूसरे व्यक्ति को भी अनुमान का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, इसे ही परार्थानुमान कहते हैं। परार्थानुमान के पञ्चावयव वाक्यों का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए तथा परार्थानुमान की सिद्धि प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए अन्नम्भट्टाचार्य कहते हैं कि – पर्वत अग्निवाला है, धूमवाला होने से, क्योंकि जो जो धूमवाला होता है वह अग्निवाला अवश्य होता है, जैसे महानस; उसी प्रकार का यह पर्वत भी धूमवाला है अतः वह अग्निवाला भी है। इन पंच अवयवों से युक्त वाक्य की सहायता से प्रतिपादित लिंग (चिन्ह) से दूसरे को भी पर्वत में अग्नि का ज्ञान हो जाता है। इन पंच वाक्यों का क्रम तथा स्वरूप इस प्रकार है – प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन। ये परार्थानुमान के पञ्च अवयव वाक्य हैं। इनके उदाहरण इस प्रकार है –

प्रतिज्ञा : पर्वत अग्निमान् है

हेतु : धूमवान होने से

उदाहरण : क्योंकि जो–जो धूमवान होता है वह–वह अग्निमान अवश्य होता है यथा–महानस

उपनय : यह (पर्वत) भी उसी तरह (अग्निव्याप्यधूमवान) का है

निगमन : अतः पर्वत अग्निमान है

विशेष : आचार्य स्पष्ट करते हैं कि स्वार्थानुमान से उत्पन्न ज्ञान स्वार्थानुमिति तथा परार्थानुमान से उत्पन्न ज्ञान परार्थानुमिति; इन दोनों में लिंगपरामर्श (अग्निव्याप्यधूमवान पर्वत) ही प्रकृष्ट कारण होने से करण है। इसलिए लिंगपरामर्श ही अनुमान प्रमाण है।

लिङ्ं त्रिविधम् – अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि चेति। अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकि। यथा वह्नौ साध्ये धूमवत्त्वम्। 'यत्र धूमस्तत्राग्निः, यथा महानसः' इत्यन्वयव्याप्तिः। 'यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति, यथा महाह्रदः' इति व्यतिरेकव्याप्तिः। अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वयि। यथा घटोऽभिधेयः, प्रमेयत्वात्, पटवत्। अत्र प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्यतिरेकव्यप्तिर्नास्ति, सर्वस्यापि प्रमेयत्वादभिधेयत्वाच्च। व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकिय यथा पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते; गन्धवत्त्वात्। यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद् गन्धवत्, यथा जलम्, न चेयं तथा, तस्मान्न तथेति। अत्र यद्गन्धवत्तदितरभिन्नमित्यन्वयदृष्टान्तो नास्ति, पृथिवीमात्रस्य पक्षत्वात्।

व्याख्या : अनुमान की प्रक्रिया में लिंग (हेतु/साधन) का ज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। इसकी सहायता से ही अनुमान प्रमाण पूर्णता को प्राप्त होता है। लिंग के तीन भेद हैं – केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि तथा अन्वयव्यतिरेकि। यह तीन प्रकार का लिंग भेद व्याप्ति का प्रकार विशेष है क्योंकि जिस अनुमानवाक्य की व्याप्ति अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही प्रकारों से बन जाती है, उस वाक्य में प्रयुक्त लिंग को अन्वयव्यतिरेकि लिंग कहा जाता है। उदाहरण – अग्नि की सिद्धि में धूमत्व हेतु अन्वयव्यतिरेकि है क्योंकि अग्नि और धूम की साथ–साथ रहने की स्वभावसिद्धि अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों माध्यमों से हो जाती है। 'जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होता है जैसे महानस', यह अन्वय व्याप्ति का स्वरूप है। 'जहाँ अग्नि नहीं होता है वहाँ धूम भी नहीं होता है जैसे जलाशय', यह व्यतिरेकि व्याप्ति का स्वरुप है। चूँकि यहाँ अग्नि और धूम का साहचर्य सम्बन्ध अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही तरीकों से सिद्ध हो जाता है, अतः धूमत्व हेतु अन्वयव्यतिरेकि हेतु है।

जिस अनुमानवाक्य की व्याप्ति केवल अन्वय प्रकार से ही बनती है, वहाँ हेतु को केवलान्वयि हेतु कहा जाता है। यथा – घट अभिधेय है, प्रमेय होने से, पट की तरह। यहाँ पर हेतु मात्र केवलान्वयि है क्योंकि प्रमेयत्व एवं अभिधेयत्व में व्याप्ति सम्बन्ध केवल अन्वय प्रकार (जहाँ जहाँ प्रमेयत्व है वहाँ–वहाँ अभिधेयत्व है) से ही सम्भव है। यहाँ यदि व्यतिरेक व्याप्ति बनाई जाय तो उसका स्वरूप इस प्रकार से होगा – 'जहाँ–जहाँ अभिधेयत्व नहीं है वहाँ–वहाँ प्रमेयत्व नहीं है' किन्तु न्याय–वैशेषिक मतानुसार संसार का कोई भी पदार्थ अभिधेयत्व तथा प्रमेयत्व से रहित नहीं है। अतः उपरोक्त अनुमान वाक्य की व्यतिरेक व्याप्ति सम्भव नहीं है इसलिए यहाँ प्रयुक्त हेतु केवलान्वयि हेतु है।

जिस अनुमानवाक्य की व्याप्ति केवल व्यतिरेक प्रकार से ही बनती है, वहाँ हेतु को केवलव्यतिरेकि हेतु कहा जाता है। यथा– पृथिवी अन्य पदार्थों से भिन्न है, गन्धवती होने से, जो अन्य पदार्थों से भिन्न नहीं है, वह गन्धवाला भी नहीं है यथा जल, यह पृथिवी वैसी अर्थात् गन्धहीन नहीं है, अतः इतर पदार्थों के समान नहीं है। इस अनुमान वाक्य में 'जो गन्धवान नहीं है वह इतर पदार्थों से भिन्न भी नहीं है' इस प्रकार की व्यतिरेक व्याप्ति तो बन जाती है किन्तु यदि हम अन्वय व्याप्ति बनाना चाहें तो उसका स्वरूप इस प्रकार होगा – जो गन्धवान है वह इतर पदार्थों से भिन्न है यथा पृथिवी' किन्तु पृथिवी का उदाहरण देना सम्भव नहीं है क्योंकि वह पक्ष में समाविष्ट है। अतः उपरोक्त अनुमान वाक्य की अन्वय व्याप्ति सम्भव नहीं है। इसलिए यहाँ प्रयुक्त हेतु केवलव्यतिरेकि हेतु है।

विशेष : अन्वय व्याप्ति में साधन का कथन पहले किया जाता है तथा साध्य का कथन बाद में किया जाता है। व्यतिरेक व्याप्ति में साध्याभाव का कथन पूर्व में होता है तथा साधनाभाव का कथन उसके पश्चात् होता है।

संदिग्धसाध्यवान् पक्षः। यथा धूमवत्त्वे हेतौ पर्वतः। निश्चितसाध्यवान् सपक्षः। यथा तत्रैव महानसः। निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः। यथा तत्रैव महाह्रदः।

व्याख्या : आचार्य अन्नम्भट्ट अनुमान की सिद्धि में सहायक अवयवों (पक्ष,सपक्ष एवं विपक्ष) के स्वरूप का विमर्श प्रस्तुत करते हैं। सर्वप्रथम वे पक्ष का लक्षण करते हैं – 'संदिग्धसाध्यवान् पक्षः' अर्थात् जहाँ पर संदिग्ध वस्तु साध्य होता है वह पक्ष कहलाता है। दूसरे शब्दों में जिस स्थल पर साध्य की सत्ता का सन्देह होता है उसे ही पक्ष कहते हैं। जैसे – पर्वत पर धूमत्व हेतु से अग्नि का अनुमान करने की प्रक्रिया में जब कोई व्यक्ति धूम और अग्नि की व्याप्ति का ग्रहण करके पर्वत पर पहुँचता है तो वहाँ धूम को देखकर उसे अग्नि की सत्ता के विषय में यह सन्देह उत्पन्न होता है कि यहाँ धूम तो दिखाई दे रहा है किन्तु अग्नि नहीं अतः यहाँ अग्नि विद्यमान है अथवा नहीं। यहाँ अग्निविषयक सन्देह का अधिकरण पर्वत है अतः पर्वत ही पक्ष है।

'निश्चितसाध्यवान् सपक्षः' अर्थात् जहाँ साध्य का होना निश्चित हो वह स्थल सपक्ष कहलाता है। सपक्ष का अर्थ है – समान पक्ष। यथा – पर्वत पर धूमत्व हेतु से अग्नि का अनुमान करने की प्रक्रिया में जब कोई व्यक्ति धूम और अग्नि की व्याप्ति का ग्रहण करके पर्वत पर पहुँचता है तो वहाँ धूम को देखकर उसे अग्नि की सत्ता के विषय में यह सन्देह उत्पन्न होता है कि यहाँ धूम तो दिखाई दे रहा है किन्तु अग्नि नहीं अतः यहाँ अग्नि विद्यमान है अथवा नहीं। इस सन्देह के उपरान्त वह पूर्व में गृहीत व्याप्ति का स्मरण करता है कि महानस में जब–जब मैंने धूम को देखा था तब–तब वहाँ

अग्नि की भी उपलब्धि हुई थी, अतः यहाँ भी ऐसा ही होगा। इस प्रकार महानस वह स्थल है जहाँ साध्य की सत्ता निश्चित है, अतः उपरोक्त अनुमान में महानस सपक्ष है।

'निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः' अर्थात् जहाँ पर साध्य का अभाव निश्चित होता है वह विपक्ष कहलाता है। विपक्ष का अर्थ है – विरुद्ध (विपरीत) पक्ष। जिस अधिकरण में साध्य निश्चित रूप से नहीं रहता है वह विपक्ष कहलाता है। यथा – धूमत्व हेतु से अग्नि के अनुमान में जलाशय विपक्ष है क्योंकि वहाँ साध्यभूत अग्नि का नितान्त अभाव है।

विशेष : अनुमान की प्रक्रिया में सद् हेतु का ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। सद् हेतु के 5 लक्षण होते हैं – पक्षधर्मत्व (हेतु का पक्ष में रहना), सपक्षसत्त्व (हेतु का सपक्ष में रहना), विपक्षव्यावृत्ति (हेतु का विपक्ष में न रहना), अबाधितविषयत्व (हेतु का किसी अन्य प्रबल प्रमाण से बाधित न होना) तथा असत्प्रतिपक्षत्व (हेतु का कोई प्रतिपक्षी अन्य हेतु न होना)। जब कोई हेतु उपरोक्त 5 लक्षणों में से किसी भी एक लक्षण से हीन हो जाता है तो वह असद् हेतु बन जाता है। असद् हेतु को ही हेत्वाभास कहा जाता है।

सव्यभिचारविरुद्धसत्प्रतिपक्षासिद्धबाधिताः पञ्च हेत्वाभासाः।

व्याख्या : अनुमान प्रमाण का स्वरूप निरुपित करने के उपरान्त आचार्य अन्नम्भट्ट अनुमान के ही अंगभूत 'हेत्वाभास' का विवेचन प्रारम्भ करते हैं। न्याय–वैशेषिक दर्शन में हेत्वाभास यद्यपि असद् हेतु हैं तथापि ये हेतु या सद्हेतु के ही अंग हैं, अतः हेतुज्ञान की पूर्णता तथा अनुचित हेतु के प्रयोग से बचने एवं वाद की प्रकिया में विपक्षी द्वारा ऐसा हेतु का प्रयोग करने पर उसके सिद्धान्त का खण्डन करके उसे परास्त करने के हेत्वाभास के स्वरूप एवं उसके प्रकारों का ज्ञान आवश्यक है। 'हेतुवद् आभासन्ते ते हेत्वाभासः' अर्थात् वह हेतु जो सद् हेतु की तरह प्रतीत तो होता है किन्तु वस्तुतः वह सद् हेतु होता नहीं है, उसे ही हेत्वाभास कहते हैं। आचार्य ने हेत्वाभास के 5 प्रकार बतलाये हैं – (1) सव्यभिचार, (2) विरुद्ध, (3) सत्प्रतिपक्ष, (4) असिद्ध, (5) बाधित

सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। स त्रिविधः – साधारणासाधारणनुपसंहारिभेदात्। तत्र साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः। यथा 'पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्' इति प्रमेयत्वस्य वह्न्यभाववति ह्रदे विद्यमानत्वात्। सर्वसपक्षविपक्षव्यावृतोऽसाधारणः। यथा 'शब्दो नित्यः, शब्दत्वात्' इति। शब्दत्वं सर्वेभ्यो नित्येभ्योऽनित्येभ्यश्च व्यावृत्तं शब्दमात्रवृत्ति। अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी। यथा 'सर्वमनित्यं, प्रमेयत्वात्' इति। अत्र सर्वस्यापि पक्षत्वाद् दृष्टान्तो नास्ति।

व्याख्या : इनमें से प्रथम सव्यभिचार का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं। 'सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः' अर्थात् सव्यभिचार हेत्वाभास को अनैकान्तिक हेत्वाभास भी कहते हैं। इसके तीन भेद हैं – (1) साधारण, (2) असाधारण, (3) अनुपसंहारी।

साधारण सव्यभिचार हेत्वाभासः 'साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः' अर्थात् जो असद् हेतु साध्य के अभाव वाले पदार्थों में रहा करता है उसे साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। यथा– 'पर्वतो अग्निमान, प्रमेयत्वात'। अर्थात् पर्वत अग्नि वाला है, प्रमेय होने से। इस अनुमान वाक्य में 'प्रमेयत्व' हेतु असद् हेतु या दुष्ट हेतु है पर्वत को अग्निवाला होने में यदि प्रमेयत्व को हेतु माना जायेगा तो संसार के समस्त पदार्थ अग्निमान हो जायेंगे क्योंकि उन सभी पदार्थों में प्रमेयत्व विद्यमान है। ऐसा मानने पर अतिव्याप्ति दोष होने लगेगा, अतः यहाँ साधारण सव्यभिचार हेत्वाभास है।

असाधारण सव्यभिचार हेत्वाभासः 'सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः' अर्थात् जब कोई हेतु समस्त सपक्ष, विपक्ष में न रहकर केवल पक्ष मात्र में रहता है तो वहाँ असाधारण सव्यभिचार हेत्वाभास होता है। अनुमान वाक्य को सही होने के लिए यह आवश्यक है कि हेतु को पक्ष तथा सपक्ष में रहना चाहिए तथा विपक्ष में नहीं रहना चाहिए। किन्तु जब कोई हेतु सपक्ष में भी नहीं रहता है तो वही असाधारण सव्यभिचार हेत्वाभास की स्थिति है। यथा – 'शब्दो नित्यः, शब्दत्वात्' अर्थात् शब्द नित्य है क्योंकि उसमें शब्दत्व है। इस अनुमान वाक्य में शब्द 'पक्ष' है, नित्यत्व 'साध्य' है तथा शब्दत्व 'हेतु' है। यह शब्दत्व हेतु नित्य आकाशादि सपक्षों तथा अनित्य घटादि विपक्षों दोनों में ही नहीं रहता, जबकि इसे पक्ष शब्द के साथ सपक्ष आकाशादि में भी विद्यमान होना चाहिए। ऐसा न होने पर अव्याप्ति दोष प्रसक्त होता है, अतः यहाँ असाधारण सव्यभिचार हेत्वाभास है।

अनुपसंहारी सव्यभिचार हेत्वाभास : 'अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी' अर्थात् अन्वय (तत् सत्त्वे तत् सत्त्वं अन्वयः) तथा व्यतिरेक (तद् अभावे तद् अभावः व्यतिरेक) दृष्टान्त से रहित हेतु को अनुपसंहारी सव्यभिचार हेत्वाभास कहते हैं। अनुपसंहारी हेत्वाभास वह है जिसका न कोई सपक्ष दृष्टान्त हो और न ही कोई विपक्ष दृष्टान्त विद्यमान हो। यथा – 'सर्वं अनित्यम्, प्रमेयत्वात्' अर्थात् सब कुछ अनित्य है क्योंकि सब प्रमेय है। इस वाक्य में सर्व पक्ष है, अनित्यत्व साध्य है तथा प्रमेयत्व हेतु है। प्रकृत उदाहरण में सम्पूर्ण पदार्थ के पक्ष बन जाने से न तो कोई अन्वय दृष्टान्त मिलता है और न ही कोई व्यतिरेक दृष्टान्त। इसलिए यहाँ अनुपसंहारी सव्यभिचार हेत्वाभास है।

साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति। कृतकत्वं हि नित्यत्वाभावेनानित्यत्वेन व्याप्तम्।

विरुद्ध हेत्वाभास : 'साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः' अर्थात् जो हेतु साध्य के अभाव में व्याप्त रहता है, वह विरुद्ध हेत्वाभास है। आशय यह है कि किसी अनुमान वाक्य में जब कोई ऐसा हेतु साध्य को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है जो साध्य को सिद्ध न करके साध्य के अभाव को सिद्ध करने लगता है तो यह विरुद्ध स्वभाव वाला होने के कारण विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है। यथा – 'शब्दो नित्यः, कृतकत्वात्' अर्थात् शब्द नित्य है, कृतक होने के कारण। कृतक होने का अर्थ है जन्य होना या उत्पन्न होना। यह सार्वत्रिक नियम है कि संसार में जो भी वस्तु कृतक (जन्य या उत्पन्न) होती है वह अनित्य अवश्य होती है। प्रकृत उदाहरण में शब्द पक्ष है, नित्यत्व साध्य है तथा कृतकत्व हेतु है। यहाँ व्याप्ति का स्वरूप यह होगा – 'यत्र यत्र कृतकत्वम् तत्र तत्र नित्यत्वम्' किन्तु वास्तविक व्याप्ति यह है कि 'यत्र यत्र कृतकत्वम् तत्र तत्र अनित्यत्वम्' अर्थात् जो कृतक होता है वह अनित्य होता है। अनित्यत्व का अर्थ है नित्यत्व का अभाव (साध्याभाव)। अतः प्रकृत हेतु नित्यत्व का साधक न होकर उसके विरुद्ध नित्यत्वाभाव को सिद्ध कर रहा है। यही विरुद्ध हेत्वाभास है।

यस्य साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते स सत्प्रतिपक्षः। यथा 'शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्, शब्दत्ववत्' इति। 'शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात्, घटवत्' इति।

सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास : 'यस्य साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते स सत्प्रतिपक्षः' अर्थात् जिस हेतु के साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाला कोई दूसरा हेतु विद्यमान हो, वह सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास कहलाता है। सत्प्रतिपक्ष का शाब्दिक अर्थ है 'सत् अर्थात् विद्यमान है प्रतिपक्ष जिसका'। आशय यह है कि जहाँ पर दो हेतु परस्पर एक दूसरे के विपरीत अर्थ (साध्य) को सिद्ध करते हैं वहाँ वे दोनों हेतु, सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास माने जाते हैं।

यथा – 'शब्दः नित्यः, श्रावणत्वात्, शब्दत्ववत्' शब्द नित्य है, श्रावणत्व के कारण, शब्दत्व के समान। यहाँ श्रावणत्व हेतु का प्रयोग करके शब्द को अनित्य सिद्ध किया जा रहा है। इसका विरोधी दूसरा अनुमान प्रस्तुत करता है – 'शब्दः अनित्यः, कार्यत्वात्, घटवत्' – शब्द अनित्य है, कार्य होने से, घट के समान। यहाँ कार्यत्व हेतु के द्वारा शब्द में अनित्यत्व को सिद्ध किया जा रहा है। यहाँ दोनों ही अनुमान वाक्यों में 'शब्द' ही एकमात्र पक्ष है जिसे श्रावणत्व हेतु के द्वारा नित्य तथा कार्यत्व हेतु द्वारा अनित्य सिद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है। अतः साध्यविपरीतसाधक तुल्यबल वाला दूसरा हेतु विद्यमान होने से ये दोनों हेतु अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हैंय यही सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है।

असिद्धस्त्रिविध **:** आश्रयासिद्धः, स्वरूपासिद्धः, व्याप्यत्वासिद्धश्चेति। आश्रयसिद्धो यथा 'गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत्'। अत्र गगनारविन्दमाश्रयः। स च नास्त्येव। स्वरूपासिद्धो यथा – शब्दो गुणश्चाक्षुषत्वात्, रूपवत्। अत्र चाक्षुषत्वं शब्दे नास्तियशब्दस्य श्रावणत्वात्। सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः। साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधिः। साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्। साध्यवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वम्। 'पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात्' इत्यत्र आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। तथा हि – यत्र धूमस्तत्र आर्द्रेन्धनसंयोग इति साध्यव्यापकता। यत्र वह्निस्तत्र आर्द्रेन्धनसंयोगो नास्तिय अयोगोलके आर्द्रेन्धनसंयोगाभावादिति साधनव्यापकता। एवं साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वाद् आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। सोपाधिकत्वाद्वह्निमत्त्वं व्याप्यत्वासिद्धम्।

असिद्ध हेत्वाभास : तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट ने असिद्ध हेत्वाभास का कोई लक्षण प्रस्तुत नहीं किया है। असिद्धि का अर्थ है सिद्धि का न होना अर्थात् साध्य व्याप्य हेतु का पक्ष में न रहना। असिद्ध हेत्वाभास के तीन भेद हैं – आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध तथा व्याप्यत्वासिद्ध।

आश्रयासिद्ध हेत्वाभास का लक्षण है – 'यस्य हेतोः आश्रयः न अवगम्यते स आश्रयासिद्धः' अर्थात् जिस हेतु का आश्रय (पक्ष) निश्चित न हो, उसे आश्रयासिद्ध कहते हैं। उदाहरण – 'गगनारविन्दं सुरभिः, अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत्' – आकाशकुसुम सुगन्धित होता है, कमल होने के कारण, सरोवर में उत्पन्न कमल के समान। इस अनुमानवाक्य में गगनारविन्द पक्ष (आश्रय) है, सुरभित्व साध्य, अरविन्दत्व हेतु तथा सरोजारविन्द दृष्टान्त है। यहाँ पर गगनारविन्द आश्रय है जिसकी वस्तुतः कोई सत्ता ही नहीं होती है। इस कारण आश्रय (पक्ष) के न होने से 'अरविन्दत्वात्' यह हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास है।

स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास : स्वरूपासिद्ध का अर्थ है जो स्वरूपतः असिद्ध हो अर्थात् जहाँ हेतु स्वयं ही असिद्ध होता है, वह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। यथा – शब्दो गुणः, चाक्षुषत्वात्, रूपवत्' – शब्द गुण है, चाक्षुष होने के कारण, रूप के समान। इस अनुमानवाक्य में शब्द के गुण होने में चाक्षुषत्व को हेतु बतलाया जा रहा है जबकि पक्षभूत शब्द चक्षु का विषय न होकर कर्ण का विषय होता है। अतः यहाँ हेतु के अपने स्वरूप से ही असिद्ध होने के कारण स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है।

व्याप्यात्वासिद्ध हेत्वाभास : आचार्य अन्नम्भट्ट व्याप्यात्वासिद्ध हेत्वाभास का लक्षण करते हैं – 'सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः' अर्थात् जो हेतु उपाधि से युक्त होता है उसे व्याप्यात्वासिद्ध कहा जाता है। इस लक्षण में आये हुए उपाधि पद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं – 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधित्वम्' अर्थात्

जो साध्य का व्यापक हो एवं साधन (हेतु) का व्यापक न हो, उसे उपाधि कहते हैं। उपाधि शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है – 'उपसमीपवर्तिनि आदधाति संक्रामयति स्वीयं धर्मं इति उपाधिः' जो अपने धर्म को समीपस्थ पदार्थ में संक्रान्त कर दे उसे उपाधि कहते हैं। जिस प्रकार जब हम किसी दर्पण के सम्मुख लाल गुलाब का पुष्प रखते हैं तो पुष्प की लालिमा दर्पण में संक्रान्त हो जाती है जिसके कारण दर्पण भी लाल प्रतीत होने लगता है, यहाँ 'लाल गुलाब का पुष्प' अपने लालिमा रूप धर्म को दर्पण में संक्रान्त कर रहा है अतः वह उपाधि है।

उपाधि के लक्षण में आये हुए 'साध्यव्यापकत्व' एवं 'साधनाव्यापकत्व' पदों का अर्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं – 'साध्यसमानाधिकरणऽत्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् साध्यव्यापकत्वम्' अर्थात् साध्य के अधिकरण (आश्रय) में रहने वाले अत्यन्ताभाव का जो प्रतियोगी नहीं हैं उसे साध्यव्यापक कहते हैं। 'साध्यवन्निष्ठऽत्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् साधनाव्यापकत्वम्' अर्थात् साधन के अधिकरण में रहने वाला जो अत्यन्ताभाव है, उसका प्रतियोगि होना ही साधनाव्यापकत्व है। यथा– 'पर्वतो अग्निमान, धूमवत्त्वात्' इस अनुमानवाक्य में आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है। यहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग रूप धर्म उक्त अनुमान वाक्य में साध्य धूम का व्यापक है क्योंकि 'जहाँ–जहाँ धूम होता है वहाँ–वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग अवश्य होता है। किन्तु 'जहाँ–जहाँ अग्नि हो वहाँ–वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग का होना अनिवार्य नहीं है, जैसे लोहे के गोले में अग्नि तो होती है किन्तु आर्द्रेन्धनसंयोग नहीं होता है। इसलिए आर्द्रेन्धनसंयोग रूप धर्म उपरोक्त अनुमान वाक्य में प्रयुक्त साधन (अग्नि) का अव्यापक है। इस प्रकार आर्द्रेन्धनसंयोग रूप धर्म में 'साध्यव्यापकत्व' एवं 'साधनाव्यापकत्व' दोनों अंशों के घटित हो जाने से उसमें उपाधि का लक्षण समन्वित हो जाता है। अतः सोपाधिक होने से अग्निमत्त्व व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है।

यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स बाधितः। यथा – वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात्' इति। अत्रानुष्णत्वं साध्यं, तदभाव उष्णत्वं स्पार्शनप्रत्यक्षेण गृह्यत इति बाधितत्वम्।

बाधित हेत्वाभास : पंच हेत्वाभासों में बाधित नामक हेत्वाभास का लक्षण करते हुए आचार्य कहते हैं – ' यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स बाधितः' – जिस हेतु के साध्य का अभाव किसी अन्य प्रमाण द्वारा निश्चित होता है वह बाधित हेत्वाभास कहलाता है। आशय यह है कि जब कोई अनुमानकर्त्ता किसी साध्य को सिद्ध करने के लिए हेतु का प्रयोग करता है किन्तु उस हेतु का साध्य किसी अन्य बलवत्तर प्रमाण से बाधित कर दिया जाता है, ऐसी दशा में हेतु अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो पाता है य यही बाधित हेत्वाभास है। उदाहरण – 'अग्निरनुष्णः, द्रव्यत्वात्, जलवत्' अर्थात् अग्नि शीतल होती है, द्रव्य होने से, जल के समान। प्रकृत अनुमान वाक्य में अनुष्णत्व साध्य है, अग्नि पक्ष है, द्रव्यत्व हेतु है तथा जलदृष्टान्त है। यदि हम द्रव्यत्व हेतु से अग्नि में अनुष्णत्व को सिद्ध करना चाहते हैं तो वह सम्भव नहीं है क्योंकि अग्नि का उष्णत्व स्पार्शन प्रत्यक्ष से निश्चित है। यहाँ स्पार्शन प्रत्यक्ष रूप प्रबल प्रमाण द्रव्यत्व हेतु के साध्यभूत अनुष्णत्व को बाधित कर देता है, यही बाधित हेत्वाभास है।

विशेष : आचार्य अन्नम्भट्ट के अनुसार हेत्वाभास का अर्थ दुष्ट हेतु है। आचार्य शंकरमिश्र ने दुष्ट हेतु का लक्षण किया है – 'यस्य हेतोर्यावन्ति रूपाणि गमकतौपयिकानि तदन्यतररूपहीनः' अर्थात् सद् हेतु होने के लक्षणों में से किसी एक से भी हीन होने पर दुष्ट हेतु होता है।

8.3 उपमान प्रमाण (उपमितिकरणम् से उत्पद्यते पर्यन्त)

उपमितिकरणमुपमानम्। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः। तत्करणं सादृश्यज्ञानम्। अतिदेशवाक्यार्थस्मरणमवान्तरव्यापारः। तथा हि– कश्चिद् गवयशब्दार्थमजानन् कुतश्चिदारण्यकपुरुषात् 'गोसदृशो गवयः' इति श्रुत्वा, वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् गोसदृशं पिण्डं पश्यति। तदनन्तरम् 'असौ गवयशब्दवाच्यः' इत्युपमितिरुत्पद्यते।

व्याख्या : तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण का निरूपण करने के उपरान्त तृतीय प्रमाण 'उपमान' का विवेचन प्रारम्भ करते हैं। उपमान का लक्षण करते हुए उनका कथन है – 'उपमितिकरणम् उपमानम्' अर्थात् उपमिति का करण उपमान कहलाता है। यहाँ करण का अर्थ असाधारण कारण है। उपमिति ज्ञान की उत्पत्ति में उपमान ही वह असाधारण कारण होता है जिसका प्रयोग करने पर उपमिति की उत्पति तुरन्त हो जाती है। 'उपमिति' का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं – 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः' अर्थात् संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध ज्ञान को उपमिति कहते हैं। किसी वस्तु या पदार्थ के नाम को 'संज्ञा' कहते हैं तथा वह पदार्थ 'संज्ञी' कहलाता है। यथा – 'कम्बुग्रीवादिमान पात्रविशेष' संज्ञी है तथा 'घट' उसकी संज्ञा है। उपमिति का ज्ञान हमें तभी हो पता है जब हम संज्ञा, संज्ञी तथा उनके मध्य के निश्चित सम्बन्ध को जानते हैं।

सादृश्यज्ञान को उपमिति का करण कहा जाता है क्योंकि उपमिति उपमान का ही सिद्ध रूप है तथा उपमान करने में तुलना या तुल्य पदार्थ का होना अत्यन्त आवश्यक होता है। चूँकि सादृश्यज्ञान इसी आवश्यकता की पूर्ति करता है, इसलिए वह उपमिति का करण कहलाता है।

उपमिति की प्रक्रिया में अतिदेश वाक्यार्थ का स्मरण अवान्तर व्यापार होता है। 'अतिदिश्यते प्रतिपाद्यते अनेन साधर्म्यादिः इति अतिदेशः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार साधर्म्य (समानता) आदि को बतलाने वाला वाक्य अतिदेश वाक्य कहलाता है। अतिदेश वाक्य का उदाहरण है – 'गोसदृशो गवयः' अर्थात् गाय के समान ही गवय (नीलगाय) होता है। यहाँ 'गोसदृशो गवयः' इस वाक्य के द्वारा गवय की गोसदृशता का कथन किया गया है, अतः यह अतिदेश वाक्य है। इसी वाक्य के अर्थ का स्मरण करके गवय को न पहचानने वाला व्यक्ति गोसादृश्य को देखकर गवय की पहचान कर लेता है, इसीलिए अतिदेश वाक्यार्थस्मरण को उपमिति ज्ञान का अवान्तर व्यापार कहा जाता है।

उपमान की प्रक्रिया का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं – किसी नगर में रहने वाला कोई व्यक्ति गवय को नहीं पहचानता है। कोई वनवासी उसे यह बताता है कि 'यथा गौस्तथा गवयः' अर्थात् जैसी गाय होती है वैसी ही नीलगाय (गवय) भी होती है। यही अतिदेश वाक्य है जिसे सुनकर वह नगर निवासी जब जंगल में प्रवेश करता है और वहाँ गाय जैसे किसी पशु को देखता है। उसे देखकर उस व्यक्ति को वनवासी द्वारा बताये गए उस अतिदेश वाक्य के अर्थ का स्मरण हो उठता है कि जैसी गाय होती है वैसी ही गवय भी होती है। इसके पश्चात् उसे यह ज्ञान हो जाता है कि यह पशु गवय है। यही उपमिति ज्ञान है। इसी उपमिति का करण उपमान प्रमाण कहलाता है।

विशेष : वैशेषिक, सांख्य–योग, चार्वाक, बौद्ध तथा जैन दर्शन में उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना जाता है। वैशेषिक एवं सांख्य दर्शन उपमान का अन्तर्भाव अनुमान

प्रमाण में करते हैं। न्यायदर्शन के अनुसार उपमिति ज्ञान के उपरान्त 'अनुमिनोमि' ऐसा अनुभव न होकर 'उपमिनोमि' ऐसा अनुभव होता है, अतः उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानना तर्कसंगत है। इसके अतिरिक्त उपमान प्रमाण के द्वारा संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध का विशिष्ट ज्ञान होता है जो की अनुमान से पृथक् है, इसलिए भी उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानना चाहिए।

8.4 शब्द प्रमाण (आप्तवाक्यं से तु शब्दः पर्यन्त)

आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथार्थवक्ता। वाक्यं पदसमूहः। यथा 'गामानय' इति। शक्तं पदम्। अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छासंकेतः शक्तिः।

व्याख्या : आचार्य अन्नम्भट्ट न्याय–वैशेषिक दर्शन की समावेशी परम्परा के आचार्य हैं। उनका ग्रन्थ 'तर्कसंग्रह' एक प्रकरण ग्रन्थ है जिसमें वैशेषिक दर्शन की पदार्थ मीमांसा के साथ न्याय दर्शन में स्वीकृत प्रमाण व्यवस्था का विवेचन किया गया है। प्रमाणों के निरूपण क्रम में आचार्य प्रत्यक्ष, अनुमान एवं उपमान का निरूपण करने के उपरान्त 'शब्द' प्रमाण का विवेचन करते हैं। शब्द प्रमाण का लक्षण है – 'आप्तवाक्यं शब्दः' अर्थात् आप्त पुरुष के वाक्य को शब्द प्रमाण कहा जाता है। आप्त का अर्थ है – यथार्थ बोलने वाला। कोई व्यक्ति जिस रूप में किसी पदार्थ का अनुभव करता है, जब वह किसी अन्य व्यक्ति को उस वस्तु के बारे में उसी प्रकार का यथार्थ कथन करता है तो उसे ही आप्त कहा जाता है।

'वाक्य' का लक्षण करते हुए आचार्य कहते हैं – 'वाक्यं पदसमूहः'। पदों का समूह वाक्य कहलाता है। संस्कृत भाषा में वर्णों का समूह मिलकर पद या शब्द का निर्माण करते हैं तथा कई शब्द या पद मिलकर एक वाक्य बनाते हैं। वाक्य का उदाहरण है – 'गाम् आनय'; इस वाक्य में दो पद हैं – 'गाम्' तथा 'आनय'। महर्षि पाणिनि के अनुसार 'सुप्तिड़न्तं पदम्' अर्थात् सुबन्त तथा तिड़न्त की पद संज्ञा होती है। 'गाम् आनय' में 'गाम्' पद सुबन्त है तथा 'आनय' पद तिड़न्त है, इसलिए इन दोनों का समूह होने से यह वाक्य हो जाता है।

पद के स्वरूप का विवेचन करते हुए आचार्य कहते हैं – 'शक्तं पदम्' अर्थात् जो अर्थबोधक शक्ति से युक्त होता है, उसे पद कहते हैं। शक्ति का लक्षण है – 'अस्मात् पदात् अयमर्थो बोद्धव्यः इति ईश्वरेच्छा शक्तिः' अर्थात् 'इस पद से यह अर्थ जानना चाहिए' – यह जो ईश्वरकृत् संकेत है, वह शक्ति है। इसी शक्ति से युक्त को पद कहा जाता है। उदाहरणतः घ्+अ+ट्+अ् वर्णों के मिलने से 'घट' पद निष्पन्न होता है और उक्त प्रकार के संकेतग्रह से घट पद का बोध हो जाता है।

वाक्य के लक्षण (पदसमूहः वाक्यम्) में प्रयुक्त 'समूह' का तात्पर्य अनेक वर्णों का समुदाय नहीं समझना चाहिए क्योंकि अनेक स्थलों पर पद 'एकवर्णात्मक' भी होता है; यथा – आकाश का वाचक 'ख' पद, सुख का वाचक 'क' पद इत्यादि। 'समूह' से आशय है – 'एक ज्ञान का विषय होना' अर्थात् एक ज्ञान में भासित होने वाले वर्णों का नाम ही पद है।

विशेष : यथार्थ भाषण करने वाला वक्ता ही आप्त है तथा जिस शब्द द्वारा यह यथार्थज्ञान हो वही शब्द प्रमाण है। प्राचीन नैयायिक ईश्वरेच्छा को शक्ति मानते हैं जबकि नव्यनैयायिक इच्छामात्र को शक्ति कहते हैं।

आकांक्षायोग्यता सन्निधिश्च वाक्यार्थज्ञानहेतुः। पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्ताऽन्वयाननुभावकत्वमाकांक्षा। अर्थाबाधो योग्यता। पदानामविलम्बेनोच्चरणं सन्निधिः। आकांक्षादिरहितं वाक्यमप्रमाणम्। यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति न प्रमाणम् आकांक्षाविरहात्। अग्निना सिञ्चेत इति न प्रमाणम्, योग्यताविरहात्। प्रहरे प्रहरेऽसहोच्चारितानि 'गामानय' इत्यादिपदानि न प्रमाणम्, सान्निध्याभावात्।

व्याख्या : तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट शब्द प्रमाण के लक्षण एवं स्वरूप का निरूपण करने के उपरान्त शाब्दबोध की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हैं। सर्वप्रथम वे वाक्य से होने वाले वाक्यार्थज्ञान के कारणों का विवेचन करते हुए कहते हैं कि 'आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि किसी वाक्य के अर्थज्ञान में कारण होते है। यदि किसी व्यक्ति को किसी वाक्य का अर्थबोध करना है तो उसे आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि का ज्ञान अवश्य होना चाहिए क्योंकि ये तीनों वाक्य का अर्थज्ञान कराने में सहकारी कारण बनते हैं। इनके बिना किसी भी वाक्य का अर्थबोध नहीं किया जा सकता है।

आकांक्षा का लक्षण है – 'पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्ताऽन्वयाननुभावकत्वमाकांक्षा'। एक पद का दूसरे पद के अभाव में परस्पर अन्वय बोध न हो पाना 'आकांक्षा' है। आशय यह कि किसी एक पद के अर्थ को समझने के लिए दूसरे पद की आवश्यकता होती है, यही आवश्यकता ही पदों की परस्पर आकांक्षा कहलाती है। यथा – 'गाम् आनय' इस वाक्य में यदि केवल गाम् पद या केवल आनय पद का ही उच्चारण किया जाय तो श्रोता को कोई अर्थबोध नहीं हो सकता है। इस वाक्य का अर्थबोध कराने के लिए गाम् पद को आनय पद की तथा आनय पद को गाम् पद की आकांक्षा है। यह आकांक्षा श्रोता की जिज्ञासा रूप होती है तथा यह हृदय में रहती है। एक पद को सुनने के उपरान्त वाक्य के अगले पद को सुनने की इच्छा श्रोता के मन में उत्पन्न होती है। इसी का नाम आकांक्षा है। इसी आकांक्षा का अभाव होने के कारण 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती इति' इस वाक्य को प्रामाणिक नहीं माना जाता है।

योग्यता का लक्षण है – 'अर्थाबाधो योग्यता' अर्थात् पदों के अर्थों में बाधा का न होना योग्यता कहलाता है। तात्पर्य यह है कि पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा का अभाव ही योग्यता है। किसी वाक्य के वाक्यार्थज्ञान हेतु उस वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थों को परस्पर बाधित नहीं होना चाहिए। यदि पदों के अर्थ एक दूसरे को बाधित करते हैं अर्थात् उनका कोई सम्बन्ध नहीं बन पता है तो ऐसे पदसमुदाय को वाक्य नहीं कहा जाता है और न उससे वाक्यार्थबोध होता है। यथा – 'अग्निना सिञ्चति' यह वाक्य प्रमाण नहीं है क्योंकि पदों में योग्यता का अभाव है। अग्नि में दाहकता होती है जिसके कारण उसमें सेचन शक्ति का अभाव होता है। सेचन क्रिया की सामर्थ्य जल में होता है, अग्नि में नहीं। अतः अग्नि और सेचन क्रिया के सम्बन्ध में बाधा विद्यमान है इसलिए इसे वाक्य नहीं कहा जा सकता है।

सन्निधि का लक्षण है – 'पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः'। पदों का अविलम्ब से उच्चारण करना सन्निधि कहलाता है। सन्निधि का अभाव होने पर भी पदसमूह को वाक्य नहीं कहा जाता है। यथा – 'गाम् आनय' इस वाक्य में यदि गाम् पद का उच्चारण प्रथम प्रहर में किया जाय तथा आनय पद का उच्चारण द्वितीय प्रहर में किया जाय तो इस समूह से अर्थबोध पूर्णतः नहीं हो सकता है। अर्थबोध के लिए यह

आवश्यक है कि वाक्य में प्रयुक्त समस्त पदों का उच्चारण बिना किसी विलम्ब के किया जाय।

विशेष : आचार्य का अभिमत है कि आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि से रहित वाक्य प्रमाण नहीं होता है अपितु उसे अप्रमाण माना जाता है।

वाक्यं द्विविधम् – वैदिकं लौकिकं च। वैदिकमीश्वरोक्तत्वात्सर्वमेव प्रमाणम्। लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम्। अन्यदप्रमाणम्। वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानम्। तत्करणं तु शब्दः।

व्याख्या : तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नभट्ट शब्द प्रमाण का निरूपण करते हुए कहते हैं कि आप्तपुरुष के द्वारा बोला गया वाक्य शब्द प्रमाण कहलाता है। वाक्य का लक्षण करते हुए उनका कथन है – 'पदसमूहः वाक्यम्' अर्थात् पदों का समूह ही वाक्य है। प्रस्तुत अनुच्छेद में आचार्य वाक्य के भेदों की चर्चा करते हुए शाब्दज्ञान के करण का विवेचन करते हैं।

वाक्य के दो भेद होते हैं – वैदिक वाक्य तथा लौकिक वाक्य। इन द्विविध वाक्यों में समस्त वैदिक वाक्य प्रमाण होते हैं क्योंकि उनका कथन ईश्वर ने किया है। न्याय–वैशेषिक परम्परा में ईश्वर को परम आप्त माना जाता है तथा इनकी यह भी मान्यता है कि ईश्वर ने ही वेद की रचना की है। चूँकि समस्त वैदिक वाक्य ईश्वरोक्त है इसलिए उसके अप्रमाण होने की सम्भावना भी नहीं है क्योंकि ईश्वर अयथार्थवक्ता नहीं हो सकता है। लौकिक वाक्यों की प्रमाणता का विवेचन करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो लौकिक वाक्य किसी आप्त व्यक्ति के द्वारा कहा जाता है केवल वही प्रमाण की कोटि में आता है। अयथार्थ भाषण करने वाले व्यक्ति के द्वारा कहा गया समस्त वाक्य अप्रमाण होता है।

शब्दप्रमाण प्रकरण का उपसंहार करते हुए आचार्य कहते हैं कि आप्त पुरुष के द्वारा बोले गए वाक्य के अर्थज्ञान को ही शाब्दज्ञान कहा जाता है। इस शाब्दज्ञान का असाधारण कारण (कारण) शब्द होता है अतः शाब्दी प्रमा का करण शब्द कहलाता है।

विशेष : न्याय–वैशेषिक मतानुसार वेद पौरुषेय हैं क्योंकि सर्वज्ञ ईश्वर ने उसकी रचना की है। ईश्वररचित होने के कारण ही समस्त वैदिक वाक्य प्रमाण होते हैं।

8.5 अयथार्थ अनुभव (अयथार्थानुभवः से अप्रमाजन्या अयथार्था पर्यन्त)

अयथार्थानुभवस्त्रिविधः – संशय–विपर्यय–तर्कभेदात्। एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं संशयः। यथा स्थाणुः वा पुरुषो वेति। मिथ्याज्ञानं विपर्ययः। यथा शुक्ताविदं रजतमिति। व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। यथा यदि वह्निर्न स्यात् तर्हि धूमोऽपि न स्यादिति।

व्याख्या : प्रस्तुत अनुच्छेद में तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट ने प्रमाजन्य यथार्थज्ञान के विपरीत ज्ञान अर्थात् अयथार्थज्ञान के भेदों तथा उनके स्वरूप का विवेचन किया है। न्याय–वैशेषिक दर्शन की यह मान्यता है कि प्रमा (यथार्थानुभव) की सिद्धि हेतु हमें अयथार्थज्ञान को भी जानना बहुत आवश्यक होता है क्योंकि यदि यह है तभी हम है, पदार्थों का परित्याग करके उपादेय पदार्थों का ग्रहण कर सकते हैं जिससे तत्त्व का यथार्थज्ञान होगा जो साधक को अपवर्ग के मार्ग पर अभिप्रेरित करेगा।

ग्रन्थकार के अनुसार अयथार्थ अनुभव का लक्षण है – 'तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः' अर्थात् उस प्रकार का अभाव होने पर भी उस प्रकार (विशेषण) का अनुभव होना अयथार्थानुभव है। आशय यह है कि जो वस्तु जैसी नहीं है उसको जब हम वैसा ग्रहीत करते हैं तो इसे ही अयथार्थ ज्ञान कहा जाता है। अयथार्थानुभव तीन प्रकार का होता है – संशय, विपर्यय एवं तर्क।

संशय का लक्षण है – ' एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं संशयः' अर्थात् एक ही धर्मी (पदार्थध्वस्तु) में परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों के वैशिष्ट्य को विषय बनाने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं। यथा – 'स्थाणुः वा पुरुषो वा'। जब कोई व्यक्ति मन्द अन्धकार में अपने सम्मुख किसी वस्तु (स्थाणु) को देखता है किन्तु निश्चय न होने के कारण वह उस वस्तु के विषय में 'यह स्थाणु है' अथवा 'यह पुरुष है'; इस प्रकार एक ही वस्तु में आकृति–सादृश्य, दृष्टिदोष, अन्धकार आदि के कारण परस्पर विरुद्ध धर्मात्मक ज्ञान करता है। इसे ही संशय ज्ञान कहा जाता है।

अयथार्थानुभव के द्वितीय भेद 'विपर्यय' का लक्षण करते हुए आचार्य कहते हैं – 'मिथ्याज्ञानं विपर्ययः' अर्थात् मिथ्याज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जो वस्तु जैसी है उसको उस रूप में ग्रहण न करके उसके विपरीत अन्य वस्तु के रूप में ग्रहण करने को ही मिथ्याज्ञान कहा जाता है। यथा – 'शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति'। शुक्ति को देखकर उसे रजत समझ लेना ही विपर्यय ज्ञान है। विपर्यय को ही भ्रम भी कहा जाता है।

अयथार्थानुभव के तृतीय भेद 'तर्क' का लक्षण करते हुए आचार्य कहते हैं – 'व्याप्यारोपेण व्यापकारोपः तर्कः' अर्थात् व्याप्य के आरोप से व्यापक के आरोप को तर्क कहते हैं। यथा – हमारा सामान्य अनुभव है कि जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि अवश्य होता है। जब कोई व्यक्ति पर्वत पर जाता है और वहाँ धूम को देखता है किन्तु अग्नि का उसे प्रत्यक्ष नहीं हो रहा होता है तो वह पर्वत पर अग्नि के अभाव की कल्पना करने लगता है। ऐसी अवस्था में धूम और अग्नि की व्याप्ति को जानने वाला कोई अन्य पुरुष उससे कहता है कि 'पर्वते यदि अग्निर्न स्यात् तर्हि धूमोऽपि न स्यात्' अर्थात् इस पर्वत पर यदि अग्नि न होता तो धूम भी न होता। इसी प्रकार जहाँ–जहाँ अग्नि का अभाव रहता है वहाँ–वहाँ धूम का भी अभाव रहता है। प्रकृत में 'अग्नि का अभाव' व्याप्य है तथा 'धूमाभाव' व्यापक है। पर्वत में अग्न्याभावरूप व्याप्य' का आरोप करके 'धूमाभावरूप व्यापक' का आरोप किया गया है। यही तर्क है।

विशेष : आचार्य अन्नम्भट्ट ने 'तर्क' को भी अयथार्थानुभव की कोटि में रखा है क्योंकि तर्क भी निश्चय से पूर्व की अनिश्चयावस्था है। न्याय–वैशेषिक मत में यद्यपि तर्क को प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जाता है तथापि उसे प्रमाण का अनुग्राहक (सहायक) स्वीकार किया जाता है क्योंकि तर्कवाक्य की परिणति प्रमाण में हुआ करती है। तर्क विशेष रूप से अनुमान प्रमाण की सिद्धि में सहायक होता है।

स्मृतिरपि द्विविधा – यथार्थाऽयथार्था चेति। प्रमाजन्या यथार्था। अप्रमाजन्या अयथार्था।

व्याख्या : तर्कसंग्रहकार अन्नम्भट्ट प्रस्तुत अनुच्छेद में ज्ञान के द्वितीय भेद स्मृति के भेदों का विवेचन करते हैं। आचार्य के अनुसार समस्त व्यवहारों का हेतुभूत गुण ही बुद्धि या ज्ञान कहलाता है। ज्ञान दो प्रकार का होता है – स्मृति और अनुभव। इनमें से स्मृति का लक्षण है – 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' अर्थात् जो ज्ञान संस्कार मात्र से उत्पन्न होता है उसे ही स्मृति कहते हैं। स्मृति ज्ञातविषयक ज्ञान होती है। यह स्मृति दो प्रकार की है– (1) यथार्थ स्मृति, (2) अयथार्थ स्मृति।

यथार्थ स्मृति का स्वरूप बताते हुए आचार्य कहते हैं – 'प्रमाजन्या यथार्था'। प्रमा अर्थात् यथार्थ अनुभव से उत्पन्न होने वाली स्मृति यथार्थ स्मृति कहलाती है। जब कोई अनुभवकर्ता किसी पदार्थ का ज्ञान करता है, यदि उसका ज्ञान सही होता है अर्थात् वस्तु जिस स्वभाव या प्रकार की है, अनुभव करने वाला उसे ठीक उसी रूप में ही ग्रहण करता है तो ऐसा अनुभव यथार्थानुभव कहलाता है। इस प्रकार के यथार्थानुभव से बनने वाला संस्कार भी यथार्थ होता है। कालान्तर में उद्‌बोधक कारणों के उपस्थित होने पर जब यह संस्कार स्मृति को उत्पन्न करता है तो वह स्मृति यथार्थानुभवजन्य होने के कारण यथार्थ स्मृति कहलाती है।

अयथार्थ स्मृति का स्वरूप बताते हुए आचार्य कहते हैं – 'अप्रमाजन्या यथार्था'। अप्रमा अर्थात् अयथार्थ अनुभव से उत्पन्न होने वाली स्मृति अयथार्थ स्मृति कहलाती है। जब कोई अनुभवकर्त्ता किसी पदार्थ का ज्ञान करता है, यदि उसका ज्ञान सही नहीं होता है अर्थात् वस्तु जिस स्वभाव या प्रकार की है, अनुभव करने वाला उसे ठीक उसी रूप में ही ग्रहण न करके किसी भिन्न रूप में ग्रहण करता है तो ऐसा अनुभव अयथार्थानुभव कहलाता है। इस प्रकार के अयथार्थानुभव से बनने वाला संस्कार भी अयथार्थ होता है। कालान्तर में उद्‌बोधक कारणों के उपस्थित होने पर जब यह संस्कार स्मृति को उत्पन्न करता है तो वह स्मृति अयथार्थानुभवजन्य होने के कारण अयथार्थ स्मृति कहलाती है।

विशेष : यथार्थता प्रमा की विशेषता है। अनुभव के यथार्थ होने पर उसे तो प्रमाण की कोटि में रखा जाता है किन्तु स्मृति के यथार्थ होने पर भी कोई दार्शनिक उसे प्रमाण नहीं मानता है।

8.6 सारांश

तत्त्वचिन्तन की प्रक्रिया में प्रमाणमीमांसा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि प्रमाणों की सहायता से ही प्रमेयों (तत्त्वों) का ज्ञान सम्भव होता है। दर्शनसरणियों में यह प्रसिद्ध उक्ति भी है – 'मानाधीना मेयसिद्धिः' अर्थात् मेय (प्रमेय) की सिद्धि मान (प्रमाण) के अधीन होती है। प्रमा या यथार्थज्ञान की उपलब्धि किसी साधन की सहायता से ही होती है इसलिए सामान्य रूप से प्रमा की उपलब्धि के साधन ही प्रमाण कहलाते हैं। आचार्य अन्नम्भट्टकृत् 'तर्कसंग्रह' यद्यपि वैशेषिक दर्शन का प्रकरण ग्रन्थ है तथापि इसमें न्यायदर्शनसम्मत चतुर्विध प्रमाणव्यवस्था का विवेचन किया गया है। अनुमिति ज्ञान का करण ही अनुमान प्रमाण कहलाता है। 'करण' का अर्थ असाधारण कारण है अर्थात् जिस कारण का प्रयोग करते ही कार्य की तुरन्त निष्पत्ति हो जाय। अनुमान की प्रक्रिया में 'परामर्श' को अनुमिति का करण कहा जाता है। अनुमिति वस्तुतः परामर्श से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है। अनुमान प्रमाण के दो भेद हैं – स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान। 'स्वार्थानुमान' वह अनुमान है जहाँ अनुमानकर्त्ता स्वयं ही अनुमिति की प्रक्रिया को संपन्न करता है। जब कोई व्यक्ति अनुमान के पञ्चावयव वाक्यों की सहायता से दूसरे व्यक्ति को अनुमान की प्रक्रिया का निदर्शन कराता है तो इस माध्यम से दूसरे व्यक्ति को भी अनुमान का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, इसे ही 'परार्थानुमान' कहते हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन ये परार्थानुमान के पंच अवयव वाक्य हैं। 'हेतुवद् आभासन्ते ते हेत्वाभासः' अर्थात् वह हेतु जो सद् हेतु की तरह प्रतीत तो होता है किन्तु वस्तुतः वह सद् हेतु होता नहीं है, उसे ही हेत्वाभास कहते हैं।

आचार्य ने हेत्वाभास के 5 प्रकार बतलाये हैं – (1) सव्यभिचार, (2) विरुद्ध, (3) सत्प्रतिपक्ष, (4) असिद्ध, (5) बाधित।

'उपमितिकरणम् उपमानम्' अर्थात् उपमिति का करण उपमान कहलाता है। यहाँ करण का अर्थ असाधारण कारण है। उपमिति ज्ञान की उत्पत्ति में उपमान ही वह असाधारण कारण होता है जिसका प्रयोग करने पर उपमिति की उत्पति तुरन्त हो जाती है। 'उपमिति' का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं – 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः' अर्थात् संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध ज्ञान को उपमिति कहते हैं। सादृश्यज्ञान को उपमिति का करण कहा जाता है तथा उपमिति की प्रक्रिया में अतिदेश वाक्यार्थ का स्मरण अवान्तर व्यापार होता है।

शब्द प्रमाण का लक्षण है – 'आप्तवाक्यं शब्दः' अर्थात् आप्त पुरुष के वाक्य को शब्द प्रमाण कहा जाता है। आप्त का अर्थ है– यथार्थ बोलने वाला। कोई व्यक्ति जिस रूप में किसी पदार्थ का अनुभव करता है, जब वह किसी अन्य व्यक्ति को उस वस्तु के बारे में उसी प्रकार का यथार्थ कथन करता है तो उसे ही आप्त कहा जाता है। 'आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि किसी वाक्य के अर्थज्ञान में कारण होते है। यदि किसी व्यक्ति को किसी वाक्य का अर्थबोध करना है तो उसे आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि का ज्ञान अवश्य होना चाहिए क्योंकि ये तीनों वाक्य का अर्थज्ञान कराने में सहकारी कारण बनते हैं। इनके बिना किसी भी वाक्य का अर्थबोध नहीं किया जा सकता है।

अयथार्थ अनुभव का लक्षण है – 'तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थ' अर्थात् उस प्रकार का अभाव होने पर भी उस प्रकार (विशेषण) का अनुभव होना अयथार्थानुभव है। आशय यह है कि जो वस्तु जैसी नहीं है उसको जब हम वैसा ग्रहीत करते हैं तो इसे ही अयथार्थ ज्ञान कहा जाता है। अयथार्थानुभव तीन प्रकार का होता है – संशय, विपर्यय एवं तर्क। एक ही धर्मी (पदार्थ/वस्तु) में परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों के वैशिष्ट्य को विषय बनाने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं। मिथ्याज्ञान को विपर्यय कहते हैं। व्याप्य के आरोप से व्यापक के आरोप को तर्क कहते हैं।

समस्त व्यवहारों का हेतुभूत गुण ही बुद्धि या ज्ञान कहलाता है। ज्ञान दो प्रकार का होता है – स्मृति और अनुभव। इनमें से स्मृति का लक्षण है – 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' अर्थात् जो ज्ञान संस्कार मात्र से उत्पन्न होता है उसे ही स्मृति कहते हैं। स्मृति ज्ञातविषयक ज्ञान होती है। यह स्मृति दो प्रकार की है – (1) यथार्थ स्मृति, (2) अयथार्थ स्मृति। प्रमा अर्थात् यथार्थ अनुभव से उत्पन्न होने वाली स्मृति यथार्थ स्मृति कहलाती है। अप्रमा अर्थात् अयथार्थ अनुभव से उत्पन्न होने वाली स्मृति अयथार्थ स्मृति कहलाती है।

8.7 शब्दावली

प्रमा, प्रमाण, अनुमान, व्याप्ति, पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, परामर्श, पक्षधर्मता, हेत्वाभास, उपमान, उपमिति, कारण, करण, अतिदेशवाक्य, अवान्तरव्यापार, शब्द, आप्त, वाक्य, आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि, अयथार्थानुभव, संशय, विपर्यय, तर्क, स्मृति, संस्कार।

8.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- तर्कसंग्रह : (स्वोपज्ञव्याख्यातर्कदीपिकासहितः), (व्याख्याकार) डॉ. दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2012।
- तर्कसंग्रह : (स्वोपज्ञव्याख्यातर्कदीपिकापदकृत्यतर्कमीमांसासहितः), (व्याख्याकार) डॉ. राजेश्वरशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2013।
- भारतीय दर्शन, दत्ता एवं चटर्जी, पुस्तक भण्डार, पटना, 1969।
- Tarksangraha ofAnnambhatta (with Dipika & Nyayabodhini), (Ed. & Tr.) Athalye & Bodas, Mumbai, 1930.

8.9 अभ्यास प्रश्न

1) अनुमान प्रमाण के स्वरूप का विवेचन कीजिए?
2) अनुमान के द्विविध भेदों का विस्तृत वर्णन कीजिए?
3) हेतु के त्रिविध प्रकारों का वर्णन कीजिए?
4) पञ्च हेत्वाभासों का निरूपण कीजिए?
5) तर्कसंग्रह के अनुसार उपमान प्रमाण का विवेचन कीजिए?
6) तर्कसंग्रह के अनुसार शब्द प्रमाण का विवेचन कीजिए?
7) अयथार्थानुभव का भेदसहित निरूपण कीजिए?
8) स्मृति का लक्षण स्पष्ट करते हुए उसके भेदों का विवेचन कीजिए?